प्रकाशितग्रन्थसंख्या—१३३

❀ श्रीश्रीगौरहरिर्जयति ❀

❀ सर्व्वसम्वादिनी ❀

श्रीपादजीवगोस्वामि–विरचिता

प्रकाशक :

बाबा–कृष्णदास

॥ श्रीश्रीगौरहरिर्जयति ॥

❀ सर्व्वसम्वादिनी ❀

श्रीजीवगोस्वामिप्रभुपादविरचिता

सम्वत् २०२२

न्योछावर—१. २५ नये पैसे

प्रकाशक—
कृष्णदासबाबा
कुसुमसरोवर,
राधाकुण्ड
(मथुरा)

मुद्रक—गौरहरिप्रेस, कुसुमसरोवर, (राधाकुण्ड)

समर्पणपत्रम्—

जिनके हृदय-कमल में गौड़ीयगोस्वामिओं को ग्रन्थगौरव-
निष्ठता निरन्तर विराजमान है, जिनको उत्साह-दृष्टि-
वृष्टि से हमारी यह ग्रंथ-सेवालता परिवर्द्धितपदि-
प्रस्फुटित है, जिन्होंने इस "सर्वसम्बादिनी"
का देवाक्षर में प्रकाशनार्थ अत्यन्त
उत्साहित किया है, ठाकुर श्री-
राधारमणचरण सेवक, गौर-
निष्ठ, मान्यवर उन श्री-
गोस्वामिदामोदरलालजी
महोदय के हस्तकमलों
में यह ग्रन्थरत्न
सतर्पित
है।

दो शब्द

श्रीकृष्णचैतन्य-महाप्रभु-पार्षद-वर, व्रज के षड्गोस्वामियों में प्रसिद्धवर, दार्शनिकपण्डितधुरन्धर, विद्वद्वर श्रीपादजीवगोस्वामी महोदय के द्वारा विरचित "सर्वसम्वादिनी" नामक यह प्रस्तुत ग्रन्थ "अनुव्याख्या" नाम से अभिहित है जो कि उन्हीं के द्वारा विरचित "षट्सन्दर्भ नामक विशाल ग्रन्थ की प्रपूर्त्ति-विशेष है। उन्होंने "षट् सन्दर्भ" प्रणयन के बाद इसमें दार्शनिक-सिद्धान्त विचार स्थल पर जहाँ जहाँ अपूर्त्ति समझा उन स्थलों की पूर्त्ति के लिये नाना शास्त्र-प्रमाण एवं विशालरूप से युक्ति-तर्कणादि के द्वारा इसकी रचना की परन्तु षट्सन्दर्भ की अनु-व्याख्या होने पर भी इसको उन्होंने पृथक्रूप से प्रणयन किया। दार्शनिक-आलोचना से वास्तविक यह ग्रन्थ मूल-ग्रन्थ से भी उपादेय बन गया। इसमें आपने वेद, वेदान्त, न्याय, सांख्य, पातञ्जल, स्मृति, पुराणादि तथा समस्त पूर्वाचार्य्यों के अभिमत का मन्थन कर तथा प्रगाढ़ आलोचना के साथ समस्त मत का समन्वय करते हुए शास्त्र निगूढ़ तथ्य को हस्तामलकवत् सबके प्रत्यक्ष दिखलाय दिया। इसी लिये ही इसका नाम उन्होंने सर्व-सम्वादिनी रखा। प्रगाढ़ दार्शनिक आलोचना के कारण तथा प्रायतः समस्त मतों का प्रचुर विचार के कारण यह ग्रन्थ मूल-ग्रन्थ से अर्थात् षट्सन्दर्भ नामान्तर भागवतसन्दर्भ से जटिल बन गया। इसमें ११७ ब्रह्मसूत्र तथा ७९ आकर ग्रन्थ का उद्धरण दिया गया है।

श्रीपाद ने "भागवतरहस्य" का उद्घाटनार्थ षट्सन्दर्भ बनाया जो कि तत्व, परमात्मा, भगवत्, श्रीकृष्ण, भक्ति तथा प्रीति नाम से विभाजित है। यह सर्वसम्वादिनी केवल तत्व,

भगवत् , परमात्म तथा कृष्ण इन चार सन्दर्भों की अनुव्याख्या है। भक्ति एवं प्रीतिसन्दर्भ में भक्तिरस, प्रीतिरस का विशद्रूप से स्फुटतया विवेचन किया गया है, अतः उन्होंने उन दोनों की अनुव्याख्या की आवश्यकता नहीं समझा होगा ॥

तत्वसन्दर्भ की अनुव्याख्या में— (१) श्रीचैतन्यमहाप्रभु के अवतारित्वविषय का विचार, (२) दश प्रकार प्रमाणों से शब्दप्रमाण की श्रेष्ठता, (३) शब्दशक्तिविचार, (४) स्फोट-बाद-विचार (५) महाबाक्याबगम का विचार, (६) भगवत्स्वरूप-विनिर्णय, (७) सर्गादि का विचार, (८) श्रीभगवद्विग्रहत्व में अद्वैतबादियों का पूर्वपक्ष तथा (९) श्रीमध्वाचार्य्य एवं श्री-रामानुजाचार्य्य का सिद्धान्त ॥

भगवत्सन्दर्भ की अनुव्याख्या में—(१) शक्तिबादस्थापन, शक्ति का अस्वीकार में दोष, द्विधर्मता (विज्ञानानन्दरूपा), (३) "आनन्दमयोऽभ्यासात्" इस सूत्र की व्याख्या, (४) निर्विशेषबादखण्डन, (५) त्रिविधभेद का विचार, (६) अतर्क्या-चिन्त्यभावत्व (७) शक्ति की स्वाभाविकता (८) शक्ति की त्रिविधता (९) भगवद्विग्रह की नित्यता, परिच्छिन्नत्व तथा अपरि-च्छिन्नत्व, (१०) ब्रह्म की विशेषातिरिक्तता, (११) अन्नमयादि पुरुषद्योतक तैत्तिरीयश्रुति की व्याख्या (१२) भगवान् का पूर्णत्वाकारत्व, (१३) श्रीकृष्ण में सर्वशास्त्रसमन्वयत्व (१४) परब्रह्म के वाच्यत्व-दुनिवार्य इत्यादि ॥

परमात्मसन्दर्भ की अनुव्याख्या में—(१) अनुभूति एवं संवित (२) अहंप्रत्यय (३) एकजीववादखण्डन, (४) जीव का अणुत्व, (५) जीव का ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व (६) जीव का परमात्मत्व (७) परिच्छेदादिमतत्रय का विचार, (८) ब्रह्म से जीव-चैतन्यसमूह का भेद (९) विवर्त्तबादखण्डन, (१०)

परिणामवाद (११) अचिन्त्यभेदाभेदसिद्धान्त (१२) चतुर्व्यूह-विचार (१३) पञ्चरात्रमतसमर्थन इत्यादि।

श्रीकृष्णसन्दर्भ की अनुव्याख्या में—(१) अवतारतत्व का विचार (२) श्रीकृष्ण के केशावतारत्व का खण्डन, (३) श्री-कृष्णनाम की श्रेष्ठता-तथा श्रीकृष्ण की स्वयंभगवत्ता (४) श्री-कृष्णभजन की सर्वश्रेष्ठता एवं सर्वगुह्यतमता (५) चरणचिन्ह का विवेचन (६) गोपीभजन की सर्वश्रेष्ठता।

विद्ववरश्रीमान्‌बलदेव उपाध्याय ने अपने "भारतीयदर्शन" पुस्तक में गौड़ियों के भेदाभेद निम्बार्कीयों का आधार पर ऐसा लिख दिया है। वह उनका सम्प्रदाय दृष्टिकोण होगा अथवा भ्रमवश लिख दिये होंगे। उन्होंने "स्वाभाविक-भेदाभेद" तथा "अचिन्त्यभेदा-भेद" दोनों में क्या विशेषता है उसका सूक्ष-विवेचन न देख कर केवल शब्दसाम्यता को लेकर उस प्रकार लिख दिया एसा ज्ञात होता है। गौडीयसम्प्रदाय की दार्शनिकभित्ति के स्थापक श्रेष्ठतम आचार्य्य श्रीजीवगोस्वामी जी अपने अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्त की स्थापना करते हुए उसकी सुदृढ़ता के लिये अन्य-मतों का निराकरण-प्रसंग में कहते हैं-"भेदाभेदबादे तु ब्रह्मण्येवोपाधि-संसर्गात्तत्प्रयुक्ता जीवगतदोषा ब्रह्मण्येव प्रादुः स्युरिति निर्दोश-कल्याणगुणब्रह्मोपदेशाविरोधादेव परित्यक्ताः स्युः। स्वाभाविक-भेदाभेदबादे तु ब्रह्मणः स्वत एव जीवभावाभ्युपगमात् दोषाश्च स्वाभाविका भवेयुरिति पूर्ववदेव दोषाः"। जिसका निराकरण किया जाता है वह आधार नहीं माना जावेगा। गौड़ीयों का अचिन्त्य-भेदाभेदबाद तथा निम्बार्कियों का स्वाभाविकभेदा-भेद बाद्‌में प्रचुर पृथक्‌ता है। उपासना-विषय में भी दोनों सम्प्र-दाय का प्रचुर भेद है। गौड़ीयों की परकीया-भावमयी शुद्ध रागमार्गीय ब्रज उपासना है उधर निम्बार्कियों की विधिमार्गीय उपासना है जिस का फल रुक्मिण्यादि परिकरत्व में है। श्री-

विश्वनाथचक्रवर्त्तीजी ने "रागवर्त्मचन्द्रिका" में कहा है—

"तानि चार्चनभक्तावहंग्रहोपासना-मुद्रा-न्यास-द्वारकाध्यान-रुक्मिण्यादि पूजादीन्यागमशास्त्रविहितान्यपि नैव कार्य्याणि"। स्वयं रूपगोस्वामिजी ने "भक्तिरसामृतसिन्धु" में कहा है-

"रिरंसां सुष्ठु कुर्व्वन् यो विधिमार्गेण सेवते।

केवलेनैव स तदा महिषीत्वमियात्पुरे॥" चक्रवर्त्तीजी वहाँ पुनः कहते हैं-"अहंग्रहोपासना-न्यास-मुद्रा-द्वारकाध्यान-महिष्यर्च्चनादीन्यपकारकाणि न कर्त्तव्यानि" "तत्र विधिमार्गेण राधा-कृष्णयोर्भजने महावैकुण्ठगोलोके खल्वविविक्तस्वकीया-परकीयाभावमैश्वर्य्यज्ञानं प्राप्नोति। मधुरभावलोभित्वे सति विधिमार्गेण भजने द्वारकायां श्रीराधा-सत्यभामयोरैक्यात् सत्यभामापरिकरत्वेन स्वकीयाभावमैश्वर्य्यज्ञान--मिश्रमाधुर्य्यज्ञानं प्राप्नोति। रागमार्गेण भजने व्रजभूमौ श्रीराधापरिकरत्वेन परकीयाभावं शुद्धमाधुर्य्यज्ञानं प्राप्नोति"। गौड़ीयसम्प्रदाय की उपासना-भित्ति शुद्ध रागमार्ग को लेकर है जिस को "स्वारसिकी" भी कहते हैं। यह राग मन का धर्म है। जो मानसिक सेवा रूप से केवल विशुद्ध-सत्त्वमय मन में संचालित होता है। मन्त्रमयी उपासना विधि को लेकर है-" मने निज सिद्ध देह करिया भावन। रात्रि दिन चिन्ते राधाकृष्णेर चरण" ऐसा चैतन्यचरितामृत में कहा है।

वेदान्तस्यमन्तक में बलदेवजी ने कहा है-"स च पुरुषोत्तमः क्वचिद्द्विभुजः क्वचिच्चतुर्भुजः क्वचिदष्टभुजश्च पठ्यते। आनन्द-संहितायां तु रूपत्रयमुक्तम्-" स्थूलमष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मं चैव चतुर्भुजम्। परन्तु द्विभुजं प्रोक्तं तस्मादेतत्त्रयं यजेत्॥" "तेषु चारुताधिक्यात्कृत्स्नव्यक्तेश्च द्विभुजस्य परत्वमुक्तम्"॥

निम्बार्की—आचार्य्यों ने द्वारका—उपासना को प्राधान्यता दी है जो कि गौड़ियों के रागमार्ग में अपकारक रूप माना

जाता है। आचार्य्य धुरन्धर पुरुषोत्तमाचार्य्य ने "अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदां विराजमानामनुरूप-सौभगाम्" इत्यादि दशश्लोकीभाष्य में निर्णय दिया। कि-"तथा च रुक्मिणी-सत्यभामा-ब्रजस्त्री विशिष्टः श्रीभगवान् पुरुषोत्तमो वासुदेवः साम्प्रदायिभिर्वैष्णवैः सदोपासनीयः। द्विभुजश्चतुर्भुजश्च स्वप्रीत्यनुरूपेणोभयविधत्वात् तस्य नात्र तारतम्यभावः" ॥
आगे—"उभयविधस्यापि ध्यानस्य मोक्षहेतुत्वश्रवणादुभयस्य तुल्यफलत्वाद् ध्येयत्वाऽविशेष इति साम्प्रदायराद्धान्तः"। अतः उपाध्याय जी को गौड़ीय—सम्प्रदाय के सिद्धान्त को निम्बार्क-सम्प्रदाय के आधारीभूत मान लेना निराधार ठहरता है ॥

श्रीपादजीवगोस्वामीजी का आविर्भाव काल—"सज्जनतोषणी-पत्रिका" के मत में १४५५ शकाब्द, श्रीवनमालीलालगोस्वामी-महोदय (वृन्दावन) के ग्रन्थागार से प्राप्त पुस्तकों के अधार से १४४५ शकाब्द, श्रीपाटगोपीवल्लभपुर पुस्तकालय की प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तकों के आधार पर १४५५ शकाब्द है। पौष शुक्लतृतीया में आप का शुभ प्रादुर्भाव समय है। आप श्रीपादरूप-सनातन के अनुज श्रीअनुपमजी के पुत्र थे। जिस समय महा प्रभुने नीला-चल से रामकेलि में पधार कर श्रीरूप-सनातन पर कृपा की उस समय श्रीजीव अल्पवयस्क बालक रहे। अनुपमजी रामचन्द्र के अनन्य उपासक थे। श्रीरूपगोस्वामीजी के साथ अनुपमजी बृन्दावन आये वहाँ एकमास पर्य्यन्त निवास कर पुनः दोनों ने सनातनगोस्वामीजी के अनुसन्धान में गंगा-मार्ग होकर गौड़देश की यात्रा की। मार्ग में अनुपम की गंगाप्राप्ति हुई। इधर बालक श्रीजीव पितृवियोग से अधीर हो गये एवं तभी से निरन्तर महा-प्रभु के ध्यान में तल्लीन रहे। आपने एक दिवस स्वप्न में संकीर्त्तन-विलास में नृत्यपरायण सपार्षद नित्यानन्दप्रभुके साथ महाप्रभु का दर्शन लाभ किया। तदनन्तर अध्ययन का छल कर नवद्वीप में आये

वहाँ श्रीनित्यानन्दप्रभु का दर्शन लाभ किया। प्रभु ने कृपा की एवं आशीर्वाद देकर वृन्दावन के लिये भेजा। वहाँ से काशी में आये वहाँ समस्त शास्त्रों के अध्यापक साक्षात् बृहस्पति के समान श्रीमधुसूदनवाचस्पति के पास जो कि वासुदेवसार्वभौमभट्टाचार्य्य के शिष्य थे, न्याय-वेदान्तादि का अध्ययन किया। वहाँ से वृन्दावन आकर श्रीरूपसनातन की छत्रछाया में (आश्रय) में रहने लगे। व्रज में रह कर इन्होंने श्रीरूप-सनातन के निकट श्रीमद्भागवतादि भक्तिशास्त्रों का अध्ययन किया। आप असाधारण दार्शनिक पण्डित तथा भक्तिशास्त्र व रसशास्त्र के महान् वेत्ता थे। श्रीरूपसनातनगोस्वामी के बाद आप गौड़ीयसमाज के अध्यक्ष एवं समस्त व्रजवासिवैष्णवों के महान आदरणीय रहे ॥

आपके द्वारा विरचित ग्रन्थावली—(१)गोपालचम्पू (पूर्व-उत्तर) (२) हरिनामामृतव्याकरण, (३) बृहत्क्रमसन्दर्भ, भागवत की टीका (४) लघुक्रमसन्दर्भ (भागवत की टीका) (५) लघुवैष्णवतोषणी (दशमस्कन्धकी टीका) (६) तत्त्वसन्दर्भ (७) परमात्मसन्दर्भ (८) भगवत्सन्दर्भ (९) कृष्णसन्दर्भ (१०) भक्तिसन्दर्भ (११) प्रीतिसन्दर्भ (१२) संकल्पकल्पद्रुम (१३) माधवमहोत्सव (१४) राधाकृष्णार्चनदीपिका (१५) गोपालविरुदावली (१६) रसामृतशेष (१७) अग्निपुराणस्थगायित्रीव्याख्या। (१८) ब्रह्मसंहिता की "दिग्दर्शिनी" टीका (१९) सूत्रमालिका (२०) धातुसंग्रह (२१) योगसारस्तव की टीका (२२) श्रीकृष्णपदचिन्ह-समाहार, (२३) राधिकापदचिन्हसमाहृति (२४) रसामृतसिन्धु की दुर्गमसङ्गमनी (२५) उज्ज्वलनीलमणि की "लोचनरोचनी" टीका, (२६) हरिनामव्याख्या (२७) युगलाष्टक (२८) उपासनातत्व (२९) अनर्पितचरीतिश्लोकस्य व्याख्या (३०) स्वर्णटीका (३१) श्रीजान्हवाष्टक ॥ कृष्णदास

ॐ श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

सर्व्वसम्वादिनी

श्रीभागवतसन्दर्भान्तर्गत-तत्त्वसन्दर्भनाम-
प्रथमसन्दर्भस्यानुव्याख्या ।

श्रीकृष्णं नमता नाम सर्व्वसम्वादिनी मया ।
श्रीभागवत-सन्दर्भस्यानुव्याख्या विरच्यते ॥

मङ्गलाचरणम्—

अथ श्रीभागवत-सन्दर्भनामानं ग्रन्थमारभमाणो महाभागवत-कोटिवहिरन्तदृष्टि-निष्टङ्कित-भगवद्भावं निजावतार-प्रचार-प्रचारित-स्वस्वरूप-भगवत्पदकमलावलम्बि-दुर्ल्लभ-प्रेमपीयूषमय-गङ्गाप्रवाहसहस्रं स्वसम्प्रदायसहस्राधिदैवं श्रीश्रीकृष्णचैतन्य-देवनामानं श्रीभगवन्तं कलियुगेऽस्मिन् वैष्णवजनोपास्यावतार-तयार्थविशेषालिङ्गितेन श्रीभागवतपद्यसम्वादेन स्तौति— (१) "कृष्णेति"— एकादशस्कन्धे कलियुगोपास्य-प्रसङ्गे पद्यमिदम्— अर्थश्च—'त्विषा' कान्त्या योऽकृष्णो गौरस्तं कलौ सुमेधसो यजन्ति । गौरत्वञ्चास्य—

"आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः ।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥"

—भाग, १० । ८ । २३ ।

इत्यत्र पारिशेष्य-प्रमाण-लब्धम् । इदानीं एतदवतारास्प-

दत्वेनाभिख्याते द्वापरे कृष्णतां गत इत्युक्तेः। शुक्लरक्तयोः सत्य-त्रेता-गतत्वेनैकादश एव वर्णितत्वाच्च। पीतस्यातीतत्वं प्राचीन-तदवतारापेक्षया। उक्तञ्चैकादशे द्वापरोपास्यत्वं श्रीकृष्णस्य श्यामत्वमहाराजत्ववासुदेवादिचतुर्म्मूर्त्तित्वलक्षणतल्लिङ्गकथनेन—

"द्वापरे भगवान् श्यामः पीतवासा निजायुधः।
श्रीवत्सादिभिरङ्कैश्च लक्षणैरुपलक्षितः॥"
"तं तदा पुरुषं मर्त्त्या महाराजोपलक्षणम्।
यजन्ति वेदतन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृप॥
नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः॥"—इति।

—भाग, ११।५।२७-२८-२९।

ततो विष्णुधर्म्मोत्तरादौ यच्च द्वापरे शुकपक्ष-वर्णत्वं कलौ नीलघन-वर्णत्वं श्रूयते तदपि यद्द्वापरे श्रीकृष्णावतारो न स्यात् तद्द्वापरविषयमेव मन्तव्यम्। एवञ्च यद्द्वापरे श्रीकृष्णोऽवतरति तदैव कलौ श्रीगौरोऽप्यवतरतीति स्वारस्य-लब्धेः। श्रीकृष्णाविर्भाव-विशेष एवायं गौर इत्यायाति—तदव्यभिचारात्। अतएव यद्विष्णुधर्म्मोत्तरे निर्णीतम्—

"प्रत्यक्ष-रूपधृग्देवो दृश्यते न कलौ हरिः।
कृतादिष्वेव तेनैव त्रियुगः परिपठ्यते॥
कलेरन्ते च संप्राप्ते कल्किनं ब्रह्मवादिनम्।
अनुप्रविश्य कुरुते वासुदेवो जगत्स्थितिम्॥" इत्यादि

—चतुर्युगावस्था नाम १०४ अध्याये।

तदप्यमर्य्यादैश्वर्य्यकृष्णत्वेनैवातिक्रान्तम्—तस्य कलि-प्रथम-व्याप्तिदर्शनात्। तदेव तदाविर्भावत्वं तस्य स्वयमेव विशेषण-द्वारा व्यनक्ति—कृष्णवर्णं कृष्णेत्येतौ वर्णौ यत्र यस्मिन् श्री-कृष्णचैतन्यदेवनाम्नि श्रीकृष्णत्वाभिव्यञ्जकं कृष्णेति-वर्णयुगलं

प्रयुक्तमस्तीत्यर्थः । तृतीये श्रीमदुद्धववाक्ये (भाग ३ । ३ । ३)-समाहूता इत्यादि पद्ये —श्रियः सवर्णेन इत्यत्र टीकायां—"श्रियो रुक्मिण्याः समानं वर्णद्वयं वाचकं यस्य स श्रियः सवर्णो रुक्मीत्यपि दृश्यते"। (श्रीधरस्वामि-टीकायाम)

यद्वा कृष्णं वर्णयति तादृशस्वपरमानन्दविलासस्मरणोल्लासवशतया स्वयं गायति परमकारुणिकतया च सर्व्वेभ्योऽपि लोकेभ्यस्तमेवोपदिशति यस्तम्, अथवा—स्वयमकृष्णं गौरं त्विषा स्वशोभाविशेषेणैव कृष्णवर्णं कृष्णोपदेष्टारञ्च, यद्दर्शनेनैव सर्व्वेषां श्रीकृष्णः स्फुरतीत्यर्थः । किम्बा—सर्वलोक-दृष्टावकृष्णं गौरमपि भक्तविशेषदृष्टौ त्विषा प्रकाशविशेषेण कृष्णवर्णं तादृशश्यामसुन्दरमेव सन्तमित्यर्थः। तस्मात् तस्मिन् सर्व्वथा श्रीकृष्णरूपस्यैव प्रकाशात् तस्यैव साक्षादाविर्भावः स इति भावः ।

तस्य श्रीभगवत्त्वमेव स्पष्टयति—साङ्गोपाङ्गास्त्र-पार्षदं—बहुभिर्म्महानुभावैरसकृदेव तथादृष्टोऽसाविति गौड़-वरेन्द्र-बङ्ग-शुह्मोत्कलादिदेशीयानां महाप्रसिद्धेः । तथाङ्गान्येव परममनोहरत्वात् उपाङ्गानि भूषणादीनि महाप्रभाववत्त्वात् तान्येवास्त्राणि सर्व्वदैकान्तवासित्वात् तान्येव पार्षदाः । यद्वा—अत्यन्त-प्रेमास्पदत्वात् तत्तुल्या एव पार्षदाः श्रीमदद्वैताचार्य्य-महानुभाव-चरण-प्रभृतयः तैः सह वर्त्तमानमिति चार्थान्तरेण व्यक्तम् । तमेवम्भूतं कैर्यजन्ति ? यज्ञैः पूजासम्भारैः "न यत्र यज्ञेश-मखा महोत्सवा" (भाग, ५ । १९ । २३) इत्युक्तेः। तत्र च विशेषणेन तमेवाभिधेयं व्यनक्ति—सङ्कीर्त्तनं बहुभिर्म्मिलित्वा तद्गान-सुखं—श्रीकृष्णगानं तत्प्रधानैः। तथा सङ्कीर्त्तन-प्राधान्यस्य तदाश्रितेष्वेव दर्शनात् स एवात्राभिधेय इति स्पष्टम्।

तदेतत् सर्व्वमवधार्य्यापि परमोत्कृष्टेनार्थेन तमेव स्तौति—
(२) अन्तःकृष्णम इत्यादिना, दर्शितञ्चैतत्परम-विद्वच्छिरो-

मणिना श्रीसार्व्वभौमभट्टाचार्य्येण—

"कालान्नष्टं भक्तियोगं निजं यः
प्रादुष्कर्त्तुं कृष्णचैतन्यनामा ।
आविर्भूतस्तस्य पादारविन्दे
गाढ़ं गाढ़ं लीयतां चित्तभृङ्गः ॥"इति ।

(३) जयताम् इति— ज्ञापकौ ज्ञापयितुम् ।

(४-५) कोऽपीति—वृद्धवैष्णवैः श्रीरामानुज-मध्वाचार्य्य-श्रीधरस्वाम्यादिभिर्यल्लिखितं तद्दृष्ट्वेत्यर्थः । अनेन स्व-कपोल-कल्पितत्वञ्च निरस्तम् ।

(६) यः इति—एको मुख्यः एतल्लिखनम् ।

(७) अथेति—श्रीभागवत-सन्दर्भ-नामानं सन्दर्भं ग्रन्थ-मित्यर्थः । वश्मि कामये ।

(८) सर्व्व-ग्रन्थार्थं संक्षेपेण दर्शयन्नपि मङ्गलमाचरति यस्य इति—क्वचिदपि सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादौ अपिशब्देन तत्रैव ब्रह्मत्वं मुख्यमित्यानीतम् । अंशकैः-लीलावताररूपैर्गुणा-वताररूपैश्च । पुमान् पुरुषः सर्व्वान्तर्य्यामी परमात्माख्यः । एकं श्रीकृष्णाख्यादन्यत् । यस्यैवेति । तस्य भगवत्त्वसाम्येऽपि श्रीकृष्णस्यैव स्वयं भगवत्त्वं दर्शितम् । नारायणाख्यं रूपं पाद्मोत्तरखण्डादि-प्रतिपाद्यः परमव्योमाख्य-महावैकुण्ठाधिपः श्रीपतिः, स्वयं भगवानिति—कृष्णस्तु भगवान् स्वयं (भाग १ । ३ । २८) इति श्रीभागवत-प्रामाण्यमिहेति सूचितम् । श्री इति तदव्यभिचारिणी स्वरूपशक्तिरपि दर्शिता । इह जगति तत्-पादभाजां तच्चरणारबिन्दं भजतां प्रेम प्रीत्यतिशयं बिधत्तां कुरुतां प्रादुर्भावयत्वित्यर्थः ।

(९) तत्र पुरुषस्य इति । अत्रैतदुक्तं भवति—यद्यपि प्रत्यक्षानुमान--शब्दार्षोपमानार्थापत्त्यभाव-सम्भवैतिह्य--चेष्टा-

ख्यानि दश प्रमाणानि बिदितानि तथापि भ्रमप्रमादबिप्रलिप्साकरणापाटब-दोषरहितबचनात्मकः शव्द एव मूलं प्रमाणम्। अन्येषां प्रायः पुरुष-भ्रमादिदोषमयतयान्यथा प्रतीति-दर्शनेन प्रमाणं वा तदाभासं वेति पुरुषैर्निर्णेतुमशक्यत्वात्। तस्य तदभावात्। अतो राज्ञा भृत्यानामिब तेनैबान्येषां बद्धमूलत्वात्, तस्य तु नैरपेक्ष्यात्, यथाशक्ति क्वचिदेव तस्य तैः साचिव्यकरणात् स्वाधीनस्य तस्य तु तान्युपमर्द्दयोऽपि प्रवृत्तिदर्शनात्। तेन प्रतिपादिते बस्तुनि तैर्बिरोद्धुमशक्यत्वात्।

तेषां शक्तिभिरस्पृष्टे बस्तुनि तस्यैव तु साधकतमत्वात्। तथाहि—प्रत्यक्षं ताबत् मनोबुद्धीन्द्रिय-पञ्चक-जन्यतया षड्बिधं भवेत्; प्रत्येकं सबिकल्पक-निर्व्विकल्पक-भेदेन द्वादशबिधं भवति। तदेब च वैदुषमवैदुषञ्चेति द्विबिधम। तत्र वैदुषे न बिप्रतिपत्तिः भ्रमादि-नृ-दोषराहित्यात्—शव्दस्यापि तन्मूलत्वात्। किन्त्ववैदुष एब संशयः, तदीयं ज्ञानं हि व्यभिचरति; यथा—मायामुण्डाबलोकने देबदत्तस्यैव मुण्डमिदं बिलोक्यत इत्यादौ। न तु शव्दः—यथा हिमालये हिमं रत्नाकरे रत्नमित्यादौ तच्छव्देनैब बद्धमूलम। यथा दृष्टचरमायामुण्डकेन केनचित् भ्रमात् सत्येऽप्यश्रद्धीयमाने सत्यमेवेदमिति नभोबाण्यादौ जानन्नपि वृद्धोपासनं बिना न किञ्चिदपि तत्त्वेन निर्णेतुं शक्नोतीति हि सर्व्वेषामेब न्यायबिदां स्थितिः। शव्दस्य तु नैरपेक्ष्यम। यथा—दशमस्त्बमसीत्यादौ—स एष शव्दो दशमोऽहमस्मीति प्रमायास्तिरस्कारिणं मोहं श्रवणपथ-प्रवेशमात्राद्बिनिबर्त्तयत्येवेति स्पष्टमेब नैरपेक्ष्यम्। आत्मशक्त्यनुरूपमेव प्रत्यक्षेण शव्दस्य साचिव्यकृतिः। यथा अग्निर्हिमस्य भेषजमित्यादावेब। न तु "भबान् बभूब गर्भो मे मथुरानगरे सुते"त्यादौ शव्दस्य तु तदुपमर्द्दकत्वम्। यथा—सर्पदष्टे त्वयि

विषं नास्तीति मन्त्र इत्यादौ। तेन प्रतिपादिते प्रत्यक्षाविरोधत्वम्। यथा—सौवर्णं भसितं स्निग्धमित्यादौ तस्यैव तु साधकतमत्वं, यथा—ग्रहचेष्टादर्शावति। सर्व्वप्रत्यक्षसिद्धं यत्तत् सत्यमित्येष पक्षः सर्व्वस्यैकत्र मिलनासम्भवात् पराहतः। अथ बहूनां प्रत्यक्षसिद्धमित्येषोऽपि क्वचिद्देशे पौरुषेयशास्त्रे वा कस्यापि वस्तुनोऽन्यथाज्ञानदर्शनात् पराहतः।

अथ प्रतिज्ञा-हेतूदाहरणोपनय-निगमनाभिध-पञ्चाङ्गमनुमानं यत् तदपि व्यभिचरति। तत्र विषमव्याप्तौ—यथा—वृष्टया तत्कालनिर्व्वापितवह्नौ चिरमधिकोद्गित्वर-धूमे पर्वते पर्व्वतोऽयं वह्निमानित्यादौ, वर्षासु धूमायमानस्वभावे पर्व्वते वा,— न तु शब्दः। यथा—सूर्य्यकान्तात् सौरिमरीचियोगेनाग्निरुत्तिष्ठत इत्यत्र तच्छब्देनैव बद्धमूलम्। यथा—अरे शीतातुराः पथिका! माऽस्मिन् धूमाद्वह्निसम्भावनां कृढ्वं दृष्टमस्माभिरत्रासौ वृष्टयाधुनैव निर्व्वाणः किन्त्वमुत्रैव धूमोद्गारिणि गिरौ दृश्यते वह्निः इत्यादौ धूमाभास एवायं न तु वह्निः किन्त्वमुत्रैवेत्यादिवाक्यादौ च। यदि वक्तव्यमेयमाभासत्वेन पूर्व्वत्र स्वरूपासिद्धो हेतुरित्यतो न सदनुमानव्यभिचारितेति—समानाकारत्वात् विषपर्व्वतवाष्पादिषु नेत्रज्वालादीनामपि दर्शनात्;-अलं धूमादीनामसार्व्वत्रिकत्वात्तद्वाष्पातीत-कालगत-धूमजातत्वादिसम्भवाच्च। धूम--धूमाभासयोरग्निसद्भावासद्भावमात्रप्रतिपत्तोरग्निज्ञानादेव धूमज्ञाने साध्यसाधनसमभिव्याहारात् परस्पराश्रयः प्रसज्जेत।

तदेवं तादृशप्रत्यक्षस्यैव प्रमां प्रति व्यभिचारे समव्याप्तावपि तद्व्यभिचारः— शब्दस्य नैरपेक्ष्यं यथा-दशमस्त्वमसीत्यादावेव। आत्मशक्त्यनुरूपमेव च तस्य तेन साचिव्यकरणं यथा-हीरकगुणविशेषमदृष्टवद्भिः पार्थिवत्वेन सर्व्वमेवाश्मादिकं द्रव्यं

लौहच्छेद्यमित्यनुमातुं शक्यते नतु श्रुततादृशगुणकं हीरकं तच्छेद्यमितीत्यादौ । शब्दस्य तदुपमर्द्दकत्वं यथा बह्नि-तप्तमङ्गं बह्नितापेन शाम्यति । शुण्ठ्यादि-द्रव्यं जठराग्नि-पाकादौ माधुर्य्यादिभाग्भवतीत्यादौ । तेन प्रतिपादितेऽनु-माने नाविरोध्यत्वं यथा-एकैवेयमौषधिस्त्रिदोषघ्नीत्यादौतच्छक्ति-भिरस्पृश्येऽर्थे शब्दस्यैव साधकतमत्वम । यथा—महचेष्टादा-वेवेति । तदेवं मुख्ययोरेव तयोराभासीकृतौ पराणि तु स्वयमेवानपेक्ष्याणि भवन्ति । तस्य तयोश्चानुगतत्वात् ।

आर्षप्रमाणम्—अथ तथात्वज्ञानार्थं तानि च दर्श्यन्ते-तत्र देवानामृषीणाञ्च बचनमार्षम् ।

उपमानम्—गोसदृशो गवय इति ज्ञानमुपमानम् । पीनत्व-मह्नयभोजिनि नक्तभोजित्वं गमयति ।

अर्थापत्तिप्रमाणम्—तदन्यथा न भवतीत्यर्थगिरोः कल्प-नं यस्य फलमसावर्थापत्तिः ।

अभावप्रमाणम्—सन्निकर्षं बिना नेन्द्रियाणि गृह्णन्ति । तस्मात् घटाभावे प्रमाणं तदनुपलब्धिरूपोऽभाव एव ।

सम्भावनप्रमाणम्—सहस्रे शतं सम्भवतीति बुद्धौ सम्भा-बनं सम्भवः ।

ऐतिह्यप्रमाणम्—अज्ञातवक्तृकतागतपारम्पर्य्यप्रसिद्धमैति-ह्यम् ।

चेष्टाप्रमाणम्—अङ्गुल्युत्तोलनतो घट-दशकादि - ज्ञानञ्च चेष्टेति ।

किञ्च पश्वादिभिश्चाविशेषान्न प्रत्यक्षादिकं ज्ञानं परमार्थ-प्रमापकम् । दृश्यते चामीषामिष्टानिष्टयोर्द्दर्शनघ्राणादिना प्रवृत्ति-निवृत्ती, न च तेषां काचित् परमार्थसिद्धिः । दृश्यते चातिवा-

लानां मातरपित्राद्याऽप्तशब्दादेव सर्व्वज्ञानप्रवृत्तिस्तं विना चैकाकितया रचितानां जड़मूकतेति न च व्यवहारसिद्धिरिति। अथैवं शब्दस्यैव प्रमाणत्वे पर्य्यवसिते कोऽसौ शब्द इति विवेचनीयम्। तत्र भ्रमादिरहितं वचः शब्दः इत्यनेनैव पर्य्याप्तिर्न स्यात् यथा—स्वमतिगृहीते पक्षे भ्रमादिरहितोऽयमयमेवेति प्रति स्वं मतिभेदे निर्णयाभावापत्तेः, तथा तस्यापि शब्दस्य प्रत्यक्षावगम्यत्वेन परानुगतत्वात् अप्रामाण्यापत्तेः।

तस्माद् यो निज-निज-विद्वत्तायै सर्व्वैरेवाभ्यस्यते,यस्याधिगमेन सर्व्वेषामपि सर्व्वैव विद्वत्ता भवति,यत्कृतयैव परमविद्वत्तया प्रत्यक्षादिकमपि शुद्धं स्यात्, यश्चानादित्वात् स्वयमेव सिद्धः, स एव निखिलैतिह्यमूलरूपो महावाक्यसमुदायः शब्दोऽत्र गृह्यते। स च शास्त्रमेव तच्च वेद एव—य एवानादिसिद्धःसर्व्वकारणस्य भगवतोऽनादिसिद्धं पुनः सृष्ट्यादौ तस्मादेवाविर्भूतमपौरुषेयं वाक्यम्—तदेव भ्रमादिरहितं सम्भावितम्। तच्च सर्व्वजनकस्य तस्य च सदोपदेशायावश्यकं मन्तव्यं तदेव चाव्यभिचारिप्रमाणम्। तच्च तत् कृपया कोऽपि कोऽपि गृह्णाति। कुतर्ककर्कशा मूढ़ा वा तन्न गृह्णन्तु नाम तेषामप्रमापदं कथमुपयातु? न चेश्वरविहितं वैद्यकादिशास्त्रमप्रमतं चेत् प्रमाणाभावादितरवत् यातीति चेन्न—तदनुगतत्वादेव शास्त्रत्वव्यवहारः।

न च बुद्धस्यापीश्वरत्वे सति तद्वाक्यं च प्रमाणं स्यादिति वाच्यम्, येन शास्त्रेण तस्येश्वरत्वं मन्यामहे तेनैव तस्य दैत्यमोहनशास्त्रकारित्वेनोक्तत्वात्।

अत्र वाचस्पतिश्चैवमाह—न च ज्येष्ठप्रमाणप्रत्यक्षविरोधादाम्नायस्यैव तदपेक्षस्याप्रामाण्यमुपचरितार्थत्वं चेति युक्तम्। अस्यापौरुषेयतया निरस्तसमस्त-दोषाशङ्कस्य बोधकतया च स्वतःसिद्धप्रमाणभावस्य स्वकार्य्यप्रमितौ परानपेक्षत्वात्। प्रमि-

तावनपेक्षत्वेऽप्युत्पत्तौ प्रत्यक्षापेक्षत्वात् ।

तद्विरोधादनुत्पत्तिलक्षणमप्रामाण्यमिति चेत् ? न; उत्पादकाप्रतिद्वन्द्वित्वात् । न ह्यागम-ज्ञानं सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमुपहन्ति येन कारणाभावान्न भवेत् अपि तु तात्त्विकम्, न च तत्तास्योत्पादकम् । अतात्त्विक-प्रमाण-भावेभ्योऽपि सांव्यवहारिकप्रमाणेभ्यस्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिदर्शनात् । यथा वर्णे ह्रस्व-दीर्घ-ादयोऽन्यधर्म्मा अपि समारोपितास्तत्त्वप्रतिपत्तिहेतवः । नहि लौकिका नाग इति वा नग इति वा पदात् कुञ्जरं तरुं वा प्रतिपद्यमाना भवन्ति भ्रान्ताः ।

न चानन्यपरं वाक्यं स्वार्थे उपचरितार्थं युक्तम् । उक्तं हि—"न विधौ परः शब्दार्थ" इति । ज्येष्ठत्वं चानपेक्षितस्य वाध्यत्वे हेतुर्न तु वाधकत्वे—रजत-ज्ञानस्य ज्यायसः शुक्तिकाज्ञानेन कणीयसा वाधदर्शनात् । तदनपवाधत्वं तदपवाधात्मनस्तस्योत्पत्तिरनुपपत्तिः । दर्शितञ्च तात्त्विकप्रमाण-भावस्यानपेक्षितत्वम्, तथा च पारमर्षं सूत्रं—पौर्व्वापर्य्ये पूर्व्व-दौर्व्बल्यं प्रकृतिवत् इति । (पू० मी० सू०. ६ । ५ । ५४) तथा—

पौर्व्वापर्य्य-वलीयस्त्वं तत्र नाम प्रतीयते ।
अन्योन्यनिरपेक्षाणां यत्र जन्म धियां भवेत्" ॥
(तन्त्रवार्त्तिकम्—३ । ३ । २) इति ।

अत्र सांव्यवहारिकमिति सार्व्वत्रिकमेव व्यवहारिकमिति ज्ञेयम् । क्वचिदुपमर्द्दस्य दर्शितत्वात् । दृश्यते चान्यत्र—सूर्य्यादिमण्डलस्य सूक्ष्मतायाः प्रत्यक्षीकृतिरप्यनुमानशब्दाभ्यां वाधिता भवतीति दूरस्थ-वस्तु न तादृशतया दृष्टत्वात् शास्त्रप्रसिद्धत्वाच्च ।

तदेवं स्थिते श्रीवैष्णवास्त्वेवं वदन्ति-वेदस्य न प्राकृतप्रत्यक्षादिवदविद्यावद्विषयमात्रत्वेन यावदेवाविद्या तावदेव तद्व्यवहारः । सति व्यवहारे प्रामाण्यं चेति मन्तव्यं-अपौरुषेयत्वात् ।

सर्व्वमुक्ति-कालाभावेन तदधिकारिणां सन्ततास्तित्वात् । परमेश्वर-प्रसादेन परमेश्वरवदेवाविद्यातीतानां चिन्मुक्तैक-विभवानामात्मारामाणां पार्षदानामपि ब्रह्मानन्दोपरिचर-भक्तिपरमानन्देन सामादि-पारायणादेर्द्द र्शयिष्यमाणत्वात् । श्रीमत्परमेश्वरस्य स्ववेद-मर्य्यादामवलम्ब्यैव मुहुः सृष्ट्यादिप्रवर्त्तकत्वाच्च । येषान्तु पुरुषज्ञान-कल्पितमेव वेदादिकं सर्व्वं द्वैतं तेषामपौरुषेयत्वाभावात्तत एव भ्रमादि-संभवात् स्वप्न-प्रलापवत् व्यवहार-सिद्धावपि प्रामाण्यं नोपपद्यत इति, तन्मतमवैदिकविशेष इति ।

नन्वर्व्वागिजन-संवादादित्वदर्शनात् कथं तस्यानादित्वादि उच्यते- अतएव च नित्यत्वम् इत्यत्र सूत्रे (ब्रह्मसू० १ । ३ । २६) शाङ्कर-शारीरकभाष्यप्रमाणितायां श्रुतौ श्रूयते-"यज्ञेन वाचः पदवीयमायं स्तामन्वविन्दन्नृषियु प्रविष्टाम्" (ऋक् स० १० । ७१ । ३) इति ।

स्मृतौ च—

"युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्व्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा ॥"

(महाभा० शन्ति० २१० । १६) इति ।

तस्मान्नित्यसिद्धस्यैव वेद-शब्दस्य तत्र तत्र प्रवेश एव नतु तत् कर्त्तृकता । तथा चानादिसिद्ध-वेदानुरूपेव प्रतिकल्पं तत्तन्नामादिप्रवृत्तिः । तथाहि-"समान-नाम-रूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च" (ब्रह्मसू. १ । ३ । ३०) इत्यत्र तत्त्ववाद-भाष्यकृद्भिः श्रीमाध्वाचार्य्यैरुदाहृता श्रुतिः-

"सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्व्वमकल्पयत् ।

(ऋक् १० । १९० । ३)

तथैव नियमः काले स्वरादिनियमस्तथा ।
तस्मान्नानीदृशं क्वापि विश्वमेतद्भविष्यति ॥"
(नै. नारा. उप. ६ । १ । ३८) इति ।

स्मृतिश्च—

"अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्व्वाः प्रवृत्तयः ॥
ऋषीणां नामधेयानि यश्च वेदेषु सृष्टयः ।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्म्ममे स महेश्वरः ॥"
(महाभा. शान्ति. २३१ । ५६–५७) इति ।

अत्र शब्दपूर्व्वकसृष्टिप्रक्रमे श्रुतिश्चाद्वैतशारीरकभाष्ये (ब्रह्म सू. शां. भा. १ । ३ । २८) दर्शिता–"एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄन्" (वृः आः १ । २ । ४) इत्यादिका तथा "स भूरिति व्याहरन् भूमिमसृजत" (तै. ब्रा. २ अः प्रः ४ अः २२ प्रः) इत्यादिका च; तथा श्रीरामानुज–शारीरके (ब्रह्मसू. १ । ३ । २७) दर्शिता च– "वेदेन नामरूपे व्याकरोत् सतासती प्रजापतिः" (तै. ब्रा. अष्ट २, प्रश्न ६, अनु २, प ७) इति । अतएवौत्पत्तिके शब्दस्यार्थेन सम्बन्धे समाश्रिते निरपेक्षमेव वेदस्य प्रामाण्यं मतम् ।

"शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" (ब्रह्मसू, १ । ३ । २८) इत्यत्र संवादादिरूपप्रक्रिया तु श्रोतृबोधसौकर्य्यकरीति सामञ्जस्यमेव भजते । तस्माद्वेदाख्यं शास्त्रं प्रमाणं तत्राल्लक्षणहीनत्वात् तद्विरुद्धत्वाच्चावैदिकन्तु शास्त्रं न प्रमाणम् ।

येषां वेश्वरकल्पना नास्ति तेषामपि शास्त्रस्यात्यर्व्वागजनत्वेन प्रसिद्धत्वात् अनाद्यविच्छिन्नवेद–प्रलोपनभूयिष्ठ-वृत्तित्वेनानादि–सिद्ध–वर्णाश्रमलोपिचरित्रेण वर्णञ्च तं तं निजान्नादिना

विलुप्यैव स्वगोष्ठीसम्पादनेन चार्व्वाचीनत्वेनैवावगतत्वात् तत् केनाप्यधुनैवोत्थापितमित्येव स्फुटमायाति ।

ननु वेदेऽपि ग्रावाणः स्रवन्ते मृदब्रवीदापोऽब्रुवन्नित्यादि-दर्शनात् अनाप्तत्वमिव प्रतीयते । उच्यते-कर्म्मविशेषाङ्गभूतानां ग्राव्णां वीर्य्य-वर्द्धनाय स्तुतिरियं सा च श्रीरामकल्पित-सेतुबन्धादौ प्रसिद्धत्वेन यथावदेवेति न दोषः । यथा-मृदब्रवी-दापोऽब्रुवन्नित्यादौ तत्तादभिमानिदेवतैव व्यपदिश्यत ज्ञेयम्,तदेवं सर्व्वत्रैव, स एव वेदः । किन्तु सर्व्वज्ञेश्वर-वचनत्वेनासर्व्व-ज्ञजीवैर्दुरूहत्वात् तत्प्रभावलब्धप्रत्यक्षविशेषवद्भिरेव सर्व्वत्र तदनुभवे शक्यते न तु तार्किकैः ।

तदुक्तं पुरुषोत्तमतन्त्रे—

"शास्त्रार्थयुक्तोऽनुभवः प्रमाणं तूत्तमं मतम् ।
अनुमाद्या न स्वतन्त्राः प्रमाण-पदवीं ययुः ॥"

इति । तथैव मतं ब्रह्मसूत्रकारैः-

"तर्काप्रतिष्ठानात्"(ब्रह्मसू. २ । १ । ११), "श्रुतेस्तु शब्द-मूलत्वात् ।" (ब्रह्मसू. २ । १ । २७) इत्यादौ; तथाच श्रुतिः-

"नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ" (कठ २ । ९) "नीहारेण प्रावृता जल्प्या च" (ऋग् १० म, ८२ सू, ७) इत्याद्याः जल्प-प्रवृत्तास्तार्किका इति श्रुतिपदार्थः ।

अतएव वराहपुराणम्-

"सर्व्वत्र शक्यते कर्त्तुमागमं हि विनानुमा ।
तस्मान्न सा शक्तिमती विनागममुदीक्षितुम् ॥"-इति ।

अद्वैतवादिभिश्चोक्तम्—

"यत्नेनापादितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥" इति ।

[वाक्यपदीये १ म काण्ड ३४ श्लोकः)

अद्वैतशारीरकेऽपि (ब्रह्मसू. भाः २।१।११)-"न च शक्यन्ते अतीतानागत-वर्त्तमानास्तार्किका एकस्मिन् देशे काले समाहर्त्तुं येन तन्मतिरेकार्थविषया सम्यङ्मतिरिति स्यात्। वेदस्य च नित्यत्वे ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वे च सति व्यवस्थित-विषयार्थत्वोपपत्तेः। तज्जनितस्य ज्ञानस्य च सम्यक्त्वमतीतानागत-वर्त्तमानैः सर्व्वैरपि तार्किकैरपह्नोतुमशक्य" इति।

यद्वागमे क्वचित्तर्केण रोधना दृश्यते तत्रैव शोभनं आगम-रूपत्वात् बाधकसौकर्य्यार्थमात्रोद्दिष्टतर्कत्वात्; यदि च यत्तर्केण सिद्ध्यति तदेव वेदवचनं प्रमाणमिति स्यात् तदा तर्क एवास्तां किं वेदेनेति? वैदिकम्मन्या अपि ते बाह्या एवेत्ययमभिप्रायः सर्व्वत्रैव, अतएव तेषां शृगालत्वमेवगति-रित्युक्तं भारते (महाभां, शान्ति, १८० । ४७-४९)

यत्र 'श्रोतव्यः मन्तव्य' इत्यादिषु मननं नाम तर्कोऽङ्गीकृतः तत्रैवमेवमुक्तं यथा कूर्म्मपुराणे—

"पूर्व्वापराविरोधेन कोऽन्वर्थोऽभिमतो भवेत्।
इत्याद्यमूहनं तर्कः शुष्क-तर्कञ्च वर्जयेत्॥"-इति

अथैवं सर्व्वेषां वेदवाक्यानां प्रामाण्य एव स्थिते केचिदेवमाहुः। कार्य्ये एवार्थे वेदस्य प्रामाण्येन सिद्धिः, तत्रैव शक्ति-तात्पर्य्ययोरवधारितत्वात्। तत्र शक्तिर्यथा "उत्तमवृद्धेन मध्यमवृद्धमुद्दिश्य गामानयेत्युक्ते तं गवानयनप्रवृत्तमुपलभ्य बालस्य वचसः सास्नादिमत्पिण्डानयनमर्थ इति प्रतिपद्यते। अनन्तरं 'गां चारय' 'अश्वमानय' इत्यादावावापोद्वापाभ्यां गोशब्दस्य सास्नादिमानर्थमानयनशब्दस्य चाहरणमितिसङ्केतमवधारयति" (साहित्यदर्पणम्, २। ११) ततः प्रथम एव कार्य्यान्वित एव प्रवृत्तेस्तत्रैव शक्तिग्रहः। तथा च तात्पर्य्यमपि तत्रैव भवेत्।

तत्रोच्यते—सिद्धे शक्त्यभावः कुतः? किं सङ्गतिग्राहक-व्यवहारस्य सिद्धेरभावात्, तत्रापि कार्य्य-संसर्गित्वाद्वा?

नाद्यः—पुत्रस्ते जात इत्यादि वाक्यजन्यस्य पित्रादिश्रोतृव्यवहारमुखविकाशादेर्द्दर्शनात्। नापि द्वितीयः-कार्य्यसंसर्गित्वस्य पुत्रजन्मादावभावात्। न चात्रापि तं पश्येत्यादिकं कार्य्यं कल्प्यं, तत्कल्पकाभावात्। प्राथमिककार्य्यान्वितशक्तिग्रहानुपपत्तिरेव तत्कल्पिकेति चेत्?-न; कार्य्यान्विते वाक्ये शक्तिग्रहासिद्धेः कार्य्यपद एव कार्य्यान्वितत्वाभावेन व्यभिचारात् योग्येतरान्वितत्व-मात्रेण संगतिग्रहोपपत्तौ विशेषण-वैयर्थ्याच्च। न च कार्य्ये कार्य्यान्तरान्वितत्वमस्तीति वाच्यं तदन्वितत्वायोगात्, अनवस्थापत्तेश्च। न च कार्य्यान्वितत्व एव प्राथमिकशक्ति-ग्रह-नियमः। सिद्धनिर्द्देशेऽपि बालक-व्युत्पत्तिर्द्दृश्यते, इदं वस्त्रमित्यादौ। तस्मात् सिद्धे सिद्धायां शक्तौ दृष्टे च श्रोतृप्रतीतिर्विरोधाभावे वक्तुस्तात्पर्य्यमपि तत्र सेत्स्यतीति सिद्धवन्निर्द्दिष्टानामुपनिषदादीनामपि स्वार्थे प्रामाण्यमस्त्येव।

तदुक्तम्—तस्मान्मन्त्रार्थ-वादयोरन्यपरत्वेऽपि स्वार्थे प्रामाण्यं भवत्येव। तद्यदि स्वरसत एव निष्प्रतिबन्धमवधारितरूपमनधिगतविषयञ्च विज्ञानमुत्पद्यते शब्दात् तदन्तरेणापि तात्पर्य्यं तस्य प्रामाण्यं किं न स्यात्? तत् संगान-विगानयोः पुनरनुवाद-गुणवादत्वे उपनिषदां पुनरनन्यशेषत्वादपास्तसमस्तानर्थमनन्तानन्दैकरसमनधिगतमात्मतत्त्वं गमयन्तीनां प्रमाणान्तरविरोधेऽपि तस्यैवाभासीकरणेन च स्वार्थ एव प्रामाण्यमिति।

तदेवं सर्व्वस्मिन्नपि वेदात्मके सर्व्वस्वार्थं प्रति प्रामाण्यमुपलब्धे स कथमर्थं प्रसूत इति विविच्यते—तत्र वर्णानामाशुविनाशित्वान्नार्थं जनयितुं शक्तिः सम्भवति। ततश्च पूर्व्व-

पूर्व्वाक्षर-जन्यसंस्कारवदन्त्याक्षरस्यैवार्थ-प्रत्यायकत्वं मन्यन्ते । ते च संस्काराः कार्य्यमात्रप्रत्यायिताः अप्रत्यक्षत्वात् संस्कार-कार्य्यस्य स्मरणस्य क्रमवर्त्तित्वात् समुदायप्रत्ययाभावान्नान्त्य-वर्णस्याप्यर्थप्रत्यायकत्वमित्यभिप्रेत्यापरे तु स्फोटमेव तत्प्रत्या-यकमाहुः—"स च वर्णानामनेकत्वेनैकप्रत्ययानुपपत्तेरेकैक-वर्ण-प्रत्ययाहितसंस्कारबीजेऽन्त्यवर्ण-प्रत्ययजनितपरिपाके प्रत्ययिनि एकप्रत्ययविषयतया झटिति प्रत्यवभासते।" (ब्रह्मसू १ । ३ । २८ सूत्रीयशङ्करभाष्ये)

अतएव स्फोटरूपत्वाद्वेदस्य नित्यत्वात् तस्य प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । वेदान्तिनस्तु "वर्णा एव तु शब्द इति भगवानुपवर्ष" इत्येतं न्यायमनुसृत्य द्विर्गो शब्दोऽयमुच्चा-रितः न तु द्वौ गोशब्दावित्येकतैव सर्व्वैः प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् वर्णात्मकानामेव शब्दानां नितत्वमङ्गीकृत्य ते च वर्णाः पिपी-लिकापंक्तिवत् क्रमाद्यनुगृहीतार्थविशेषसंबद्धाः सन्तः स्वव्यव-हारेऽप्येकैक-वर्णग्रहणान्तरं समस्त-वर्ण-प्रत्ययदर्शिन्यां बुद्धौ तादृशमेव प्रत्यवभासमानास्तं तमर्थमव्यभिचारेण प्रत्याय-यिष्यन्तीत्यतो वर्णवादिनां लघीयसी कल्पना स्यात ; स्फोट-वादिनां तु दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च; तथा वर्णाश्चेमे क्रमेण गृह्यमाणाः स्फोटं व्यञ्जयन्ति स स्फोटोऽर्थं व्यनक्तीति गरी-यसी कल्पना स्यादिति मन्यन्ते । तदेवं वर्णरूपाणामेव वेद-शब्दानां नित्यत्वमर्थप्रत्यायकत्वं चाङ्गीकृतम् ।

तत्र मुख्या लक्षणा-गुणभेदेन त्रिधा शब्द-वृत्तिः । मुख्यापि रूढ़योगभेदेन द्विधा, रूढ़िस्वरूपेण जात्या गुणेन वा निर्द्दे-शार्हे वस्तुनि संज्ञा-संज्ञिसङ्केतेन प्रवर्त्तते-यथा डित्थः गौः शुक्लः ।

लक्षणा-तेनैव संकेतेनाभिहितार्थसम्बन्धिनी यथा-गङ्गायां घोषः । इयं पुनस्त्रिधा—अजहत्स्वार्था जहत्स्वार्था जहदजह-

स्प... व, यथा - श्वेतो धावति, गङ्गायां घोषः, सोऽयं देवदत्त इति ।

श्रीरामानुजादिभिस्त्वन्वया न मन्यते तत्र तद्ग्रन्थेष्वेवान्वेष्टव्यम् ।

स इति पदे तत्कालानुभूत उच्यते । अयम् इति इदानीमनुभूयमान उच्यते । अत्र द्वयोरन्वये विरोध एव नास्ति कथं लक्षणा स्यादिति संक्षेपः । गौणी चाभिहितार्थलक्षितगुणयुक्ते तत्सदृशे व -सिंहो देवदत्तः । यथाहुः—

"अभिधेयाविनाभूतप्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते ।
लक्ष्यमाण-गुणैर्योगाद्वृत्तिरिष्टा तु गौणता" ।। इति
(तन्त्रवार्त्तिके १ । ४ । २२)

इह लक्षणा च रूढिं प्रयोजनञ्चापेक्ष्यैव भवति ।

आद्ये यथा लक्षमाणः कलिङ्ग साहसिकः; अन्ते-गङ्गायां घोषः । अत्र तटस्थशीतलत्वपावनत्वादेर्बोधनं प्रयोजनम् । गौणी तु प्रयोजनमेवापेक्ष्य यथा-गौर्वाहिका अज्ञत्वत्वाद्यतिशय-बोधनमत्र प्रयोजनम् ।

योगस्तु एतत्त्रिविध-वृत्त्याप्रतिपादितपदार्थयोः प्रकृति-प्रत्ययार्थयोर्योगेन यथा-पङ्कजं औपगवः पाचकः ।

व्यञ्जनाभिधा च वृत्तिर्मन्यते यथा गङ्गायां घोष इत्युक्ते तन्निवासभुतस्य तटस्थशीतलत्वपावनत्वादिकं गम्यमित्यादि । तदुक्तं—

"शब्दबुद्धिकर्म्मणां विरम्यव्यापाराभाव" इति नयेनाभिधा-लक्षणातात्पर्य्याख्यासु तिसृषु वृत्तिषु स्वं स्वमर्थं बोधयित्वोपक्षीणासु ययाऽन्योऽर्थो बोध्यते सा शब्दस्यार्थस्य प्रकृति-प्रत्ययादेश्च शक्तिर्व्यञ्जन-गमन-ध्वनन - प्रत्यायन-भावाभिप्रायादि-व्यपदेशविषया व्यञ्जना नामेति (साहित्यदर्पणे २ परिच्छेदे षोड़श श्लोको द्रष्टव्यः)

अथैताश्च वृत्तयः पद-वाक्यत्वमापन्नेष्वेव शब्देषु तत्तदर्थं बोधयितुमुदयन्ते। तस्य पदत्वञ्च विभक्त्यर्थोलिङ्गनेन जायते तानि च पुनर्वाक्यतामापद्य विशेषार्थं बोधयन्ति।

"वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।"
(साहित्यदर्पणे २ प)

"योग्यता पदार्थानां परस्परसम्वन्धे बाधाभावः अन्यथा वह्निना सिञ्चतीत्यपि वाक्यं स्यात्।" (साहित्यदर्पणे २ प)

"प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्"-(तैः स, २।५।१) इत्यादौ तु तद्विधानमचिन्त्यत्वप्रभावत्वाद्योग्यताऽस्त्येव।

"आकाङ्क्षा प्रतीतिपर्य्यवसानविरहः श्रोतृ-जिज्ञासा-रूपः अन्यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीत्यपि वाक्यं स्यात्।"(साहित्यदर्पणे २ प.)

आसत्तिः बुद्ध्यविच्छेदः। अन्यथेदानीमुच्चारितस्य देवदत्तपदस्य दिनान्तरोच्चारितेन गच्छति पदेन सङ्गतिः स्यात्। "अत्राकाङ्क्षायोग्यतयोरर्थधर्म्मत्वेऽपि पदोच्चयधर्म्मत्वमुपचारादिति"। तच्च वाक्यं महावाक्यानुगतं, महावाक्यञ्च वाक्यसमुदायः। अस्यार्थस्तूपक्रमोपसंहारादिभिरेवावधार्य्यते। तथाहि - "उपक्रमोपसंहाराबभ्यासोऽपूर्व्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य्यनिर्णये" इति। उपक्रमोपसंहारयोरेकरूपत्वम्, पौनःपुन्यं, अनधिगतत्वं, फलम्, प्रशंसा, युक्तिमत्त्वं चेति षड्विधानि तात्पर्य्यलिङ्गानि। एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां गतिसामान्येनापि महावाक्यार्थोऽवगन्तव्यः। अत्र युक्तिमत्त्वं नाम न शुष्कतर्कानुग्रहत्वम् किन्तु तच्छास्त्रोदितं कथञ्चित् तत्सम्भावनामात्रं लक्षणं शास्त्रवैयर्थ्यप्रसङ्गादेव। यत्र तु वाक्यान्तरेणैव विरोधः स्यात्तत्र बलाबलत्वं विवेचनीयम्। तच्च शास्त्रगतं वचनगतं च; पूर्व्वं यथा—"श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव बलीयसी"त्यादि। वचनगतं च यथा-"श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्व्बल्यमर्थविप्रकर्षादि"त्यादि,

निरुक्तानि चैतानि - "श्रुतिश्च शब्दः क्षमता च लिङ्गं बाक्यं पदान्येव तु संहतानि। सा प्रक्रिया यत् करणं सकाङ्क्षं स्थानं क्रमो योगबलं समाख्या ॥" इति।

तच्च बिरोधित्वं परोक्षबादादिनिबन्धनं चिन्तयित्वा इतरबाक्यस्य बलबद्वाक्यानुगतोऽर्थश्चिन्तनीयः।

इदं प्रतिपाद्यस्याचिन्त्यत्वे एब युक्तिदूरत्वं व्याख्यातम्- "अचिन्त्याः खलु ये भाबा न तांस्तर्केण योजयेत्" इत्यादि दर्शनेन; चिन्त्यत्वे तु युक्तिरप्यबकाशं लभते चेल्लभतां न तत्रास्माकमाग्रह इति सर्व्वथा वेदस्यैब प्रामाण्यम्। तदुक्तं शङ्करशारीरकेऽपि - "आगम-बलेन ब्रह्मबादी कारणादि-स्वरूपं निरूपयति नाबश्यं तस्य यथादृष्टं सर्व्वमभ्युपगतं मन्तव्यमिति।"

(ब्रह्मसूत्रीयशाङ्करभाष्यम्-२। २। ३८)

तदेवं वेदो नामालौकिकः शब्दस्तस्य परमं प्रतिपाद्यं यत्तदलौकिकत्वादचिन्त्यमेब भबिष्यति तस्मिंस्त्वन्वेष्टव्ये तद्रुपक्रमादिभिः सर्व्वेषामप्युपरि यद्रुपपद्यते तदेवोपास्यमिति।

अथैवं प्रमाण-निर्णये स्थितेऽपि पुनराशङ्क्योत्तरपक्षं दर्शयति- तत्र च वेदशब्दस्येति (१२) संप्रति कलौ अप्रचरद्रूपत्वेन दुर्मेधस्त्वेन दुष्पारत्वात्।

उपसंहरति-तदेवं बेदत्वं सिद्धमिति (१६)अतएव "स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गः (ब्रह्मसू. २। १। १) इति चेत्? "नान्यस्मृत्यनवकाश-दोष-प्रसङ्गात्" इत्यनेन न्यायेनाप्यन्यत्र स्मृतिबत् स्मृत्यन्तरबिरोध-दृष्टत्वञ्च नात्रापतति।

ननु "न च स्मार्त्तमतद्धर्म्माभिलापात्" (ब्रह्मसू. १। २। २०) इत्यत्र प्रधानं स्मृत्युक्तमेब न च श्रौतमिति प्रतिपादयता श्रीबादरायणेन पुराणानामपि प्राधानिक-प्रक्रियत्वात् स्मृतित्वं बोध्यते? न-तत्र स्वतन्त्रं यत् प्राधानं तदेब निषेधयता तेन

प्रधान-स्वातन्त्र्य-प्रतिपादकं सांख्यदर्शनमेव स्मृतित्वेन मन्यते। "तदधीनत्वादर्थवत्" (ब्रह्मसू. १।४।३) इति सूत्रान्तरेण हि परमेश्वराधीनतया विश्रुतमव्याकृताद्यपरपर्य्यायं मन्यतयेव प्रधानं, तथाच पुराणे दृष्टमिति-न स्मृतिसाधारण्यं तस्येति वेदत्वमेव स्थितम्। ननु ब्रह्मसूत्रस्यापि वेदान्तभूतत्वं श्रूयते इत्याशङ्क्याह- (१८) विश्वात्यन्तेति श्रीभागवत-स्वरूप-ज्ञाने प्रमाणान्तरमाह- (२०) एवं स्कान्देति। (१६) यत्र इत्यादिकञ्च पद्यं (स्कन्ध, प्रभासख. २।४६) यथा मात्स्यमेव ज्ञेयम्। सारस्वतस्येति तत्कल्पमध्ये या भगवल्लीलाः तत्सम्बन्धिनो ये नराऽमरा (स्कन्ध-प्रभासखं २।४०) इति वा कल्पान्तरभगवत्-कथा तु तत्र प्रायिकैवेत्यर्थः; सा च "पाद्मकल्पमथो शृणु" (स्कन्ध-प्रभासख. २ अः) (२०) इत्यादि यत्र विशेषवाक्यं तत्रान्यत्र क्वचिदेवेति ज्ञेयम्। अत्र प्रभासखण्डे यदष्टादश-पुराणाविर्भावानन्तरमेव भारतं प्रकाशितमिति श्रूयते तत् श्रीभागवत-विरोधात्- (२१) भारतार्थ-विनिर्णय इति श्रीभागवत-माहात्म्य-विरोधाच्च। पूर्व्वं कृतमपि भारतं तत्पश्चाज्जनमेजयादिषु प्रचारितमित्यपेक्ष्यैव ज्ञेयम्-तदेवं प्रमाण-प्रकरणं व्याख्यातम्।

अथ प्रमेय-प्रकरणारम्भे (२६) अथ नमस्कुर्व्वन्नेवेति सूत्रस्थानीयस्याभास-वाक्यस्य विषयस्थानीय-श्रीभागवत--वाक्यसमाप्तावङ्कविन्यासस्तद्वाक्य-सङ्गति-गणना-परः, स च क्रमसन्दर्भानुकूलो भविष्यति तत्र व्याख्यासमाप्तावङ्क-विन्यास-विशेषस्यायमर्थः। द्वादशस्कन्धे द्वादशाध्याये श्रीसूतः—

(३०) भक्तियोगेन (श्रीभाग. १।७।४) इत्यादि शौनकं प्रति निर्द्धारयतीति चूर्णिकावाक्यस्यान्वयात् एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम्। तद्व्याख्यान्ते—

(३५) 'यद्येव यदेकं' इत्यादिकं (तत्त्व-सं) परमात्म-सन्दर्भे बिवरणीयम । अत्र श्रीशुक-हृदय-बिरोधश्चैवं यदि भगवतोऽप्यविद्यामयमेब वैभवं स्यात्तदा श्रीशुकस्य तल्लीला-कृष्टत्वं न स्यादिति मूले चैबमग्रतो भगबत्सन्दर्भे सुष्ठु बिचार-यिष्यति ।

(६०) सर्गोऽस्य (मू.) इत्यादि (श्रीभागबत १२ । ७ ८ ।) ॥ १५ ॥ (६०) अतः प्रायशः सर्व्वेऽर्थाः (मू.) इति तत्र मुख्यत्वेन सर्गो द्वितीय-तृतीययोः बिसर्गः द्वितीय-तृतीय-चतुर्था-दिपु । (६१) 'कामाद्वृत्तिः' (मू.) श्रीभागबत १२ । ७ । १३) "जगृहुः यक्ष-रक्षांसि रात्रिं क्षुत्तृट् समुद्भवाम्"

(श्रीभागवत ३ । २० । ४१)

इत्यादि बाक्यतस्तृतीयेऽपि, चोदनया बृत्तिस्तु सप्तमैका-दशयोर्वर्णाश्रमाचार-कथने रक्षा सर्व्वत्रैब, मन्वन्तरमष्टमादिपु वंशो वंशानुचरितं चतुर्थ-नबमादिपु, संस्था एकादश-द्वादशयोः, हेतुः श्रीकपिलदेबादि-बाक्यतस्तृतीयैकादशादिपु, आश्रयो दश-मादिपु ज्ञेयः । प्रलयलक्षणमाह—

(६२) नैमित्तिकः इति (श्रीभागबत १२ । ७ । १६) एषां लक्षणं द्वादशे चतुर्थाध्यायेऽनुसन्धेयम । प्रलयस्तु मन्वन्तरान्ते-ऽपि भबति तथा श्रीविष्णुधर्म्मोत्तरे प्रथमखण्डे—

बज्र उबाच—

"मन्वन्तरे परिक्षीणे यादृशी द्विज जायते ।
समबस्था महाभाग ! तादृशीं बक्तुमर्हसि ॥"

मार्कण्डेय उबाच—

"मन्वन्तरे परिक्षीणे देबा मन्वन्तरेश्वराः ।
महर्लोकमथासाद्य तिष्ठन्ति गतकल्मषाः ॥

मनुश्च सह शक्रेण देवाश्च यदुनन्दन ।
ब्रह्मलोकं प्रपद्यन्ते पुनरावृत्तिदुर्लभम् ।"
ऋषयश्च तथा सप्त तत्र तिष्ठन्ति ते सदा ।
अधिकारं बिना सर्व्वे सदृशाः परमेष्ठिनः ॥
भूतलं सकलं बज्र ! तोय-रूपी महेश्वरः ।
ऊर्म्मि-माली महावेगः सर्व्वमावृत्य तिष्ठति ॥
भूर्लोकमाश्रितं सर्व्वं तदा नश्यति यादव !
न बिनश्यन्ति राजेन्द्र ! विश्रुताः कुलपर्व्वताः ॥

महेन्द्र—मलय इत्यादयः ।

"शेषं बिनश्यति जगत् स्थाबरं जङ्गमञ्च यत् ।
नौर्भूत्वा तु महीदेबी तदा यदुकुलोद्भव ॥
धारयत्यथ बीजानि सर्व्वाण्येवाविशेषतः ।
आकर्षति तु तां नावं स्थानात् स्थानन्तु लीलया ॥
कर्षमाणन्तु तां नावं देबदेवं जगत्पतिम् ।
स्तुबन्ति ऋषयः सर्व्वे दिव्यैः कर्म्मभिरच्युतम् ॥
घूर्णमानस्तदा मत्स्यो जल-वेगोर्म्मि-संकुले !
घूर्णमानान्तु तां नावं नयत्यमित-बिक्रमः ॥
हिमाद्रि शिखरे नावं बद्ध्वा देबो जगत्पतिः ।
मत्स्यस्त्वदृश्यो भबति ते च तिष्ठन्ति तत्रगाः ॥
कृत-तुल्यं तदा कालं ताबत प्रक्षालनं स्मृतम् ।
आपः शममथो यान्ति यथापूर्व्वं नराधिप !
ऋषयश्च मनुश्चैव सर्व्वं कुर्व्वन्ति ते सदा ॥
मन्वन्तरान्ते जगतामबस्था
मयोदिता ते यदुवृन्द-नाथ ! ।
अतः परं किं तब कीर्त्तनीयं
समासतस्तद्वद भूमिपाल ॥"—इति ।

एवं सर्व्वमन्वन्तरेषु संहार—इत्यादि प्रकरणं श्रीहरिवंशे

तदीयटीकासु च स्पष्टमेव । अतएव पञ्चम-षष्ठ-मन्वन्तरान्ते श्रीभागवतेऽपि प्रलयो बर्ण्यते—

"चाक्षुषे त्वन्तरे प्राप्ते प्राक्सर्गे काल-विप्लुते ।
यः ससर्ज्ज प्रजा इष्टाः स दक्षो दैव-चोदितः ॥"

(श्रीभाग, ४।३०।४६) इत्यादौ ।

"रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषान्तर-विप्लवे ।
नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद्वैवस्वतं मनुम् ॥"

(श्रीभाग, १।३।१५) इत्यादौ च ।

तथा च भारत-तात्पर्य्ये श्रीमध्याचार्य्याः— "मन्वन्तर-प्रलये मत्स्य-रूपेण विद्यामदान्मनवे देवदेवः" (भारत-तात्पर्य्ये, ३ अ, ४३ श्लोः) इति ।

द्वादशे शौनक-वाक्ये—

स बा अस्मत्कुलोत्पन्नः कल्पेऽस्मिन् भार्गवोत्तमः ।
नैबाधुनापि भूतानां संप्लवः कोऽपि जायते ॥"

(श्रीभाग, १२।८।३)

इत्यत्र तदस्वीकारस्तु कल्पान्त-प्रलय-विषय एव "येन ग्रस्त-मिदं जगत" (श्रीभागवत, १२।८।२) इत्युक्तत्वात् मन्वन्तर-प्रलये भाविमन्वादीनामपि स्थितेश्च; षष्ठे तु प्रलयोऽन्यस्मान्मन्व-न्तराद्विलक्षणः त्रैलोक्यस्यैव मज्जनात्; तथा चाष्टमे श्रीमत्स्यदेवे-नोक्तम्—

"त्रिलोक्यां लीयमानायां सम्वर्त्ताम्भसि वै तदा ।
उपस्थास्यति नौः काचिद्विशाला त्वां मयेरिता ॥"

(श्रीभाग, ८।२४।३३)

इति, एतदपेक्षयैव; तत्र श्रीशुकेनापि "योऽसावस्मिन् महाकल्पे"

(श्रीभाग, ८ । २४ । ११) इत्युक्तम् । कल्प-शब्दस्य प्रलय मात्र-वाचित्वात् , महच्छब्दस्य मन्वन्तरान्तरप्रलयापेक्षत्वात्- "सम्वर्त्तः प्रलयः कल्पः क्षयः कल्पान्त इत्यपि" इत्यमरः । अत-स्त्रैलोक्य-मज्जनहेतोरेव दैनन्दिनप्रलयवत् ब्रह्मापि तदा सत्य-युगसमान-काले प्रलये श्रीनारायणनाभिकमले विश्राम्यति, यत एव विश्रमणसाम्यात् यावद्ब्राह्मी निशा इति निशाशब्दः प्रयुक्तः तत्र च त्रैलोक्य-मज्जनेऽपि केषाञ्चिद्देवासुरादीनामसमाप्त-भोगानां स्थितिस्तां नावमालम्ब्यैव यदुक्तं श्रीमत्स्यदेवेनैव सत्यव्रतं प्रति—

"त्वं तावदोषधीः सर्व्वा बीजान्युच्चावचानि च ।
सप्तर्षिभिः परिवृतः सर्व्वसत्त्वोपवृंहितः ॥"

(श्रीभाग ८ । २४ । ३४)

इति, तस्मात सिद्धे मन्वन्तर-प्रलये तस्यापि नैमित्तिकत्वाच्चतुष्टया-नतिरिक्तत्वं, अन्योऽप्यकस्मात् प्रलयः श्रूयते—यथा स्वायम्भुव-मन्वन्तर-सृष्ट्यारम्भे यथा च षष्ठमन्वन्तरमध्ये प्राचेतस-दक्षदौ-हित्र-हिरण्याक्ष-वधे. उभयोरैक्येन कथनन्तु लीला-साजात्येनैव ज्ञेयम् , यथा पाद्म-ब्राह्मकल्पयोः क्वचित् क्वचित् साङ्कर्य्यं तद्वत् । तस्मान्निरोधः स्यादनुशयनमात्मानमात्मनः सह शक्तिभिरित्ये-तल्लक्षणमप्युपलक्षणमेव नित्यप्रलयेऽपि तदव्याप्तेः ।

सन्दर्भमुपसंहरति—(६२) उद्दिष्टः सम्बन्धः इति सम्ब-न्धिनः परमतत्त्वस्य दिङ्मात्रमेव दर्शितमित्यर्थः, अत्र तस्य सम्बन्धिनः शास्त्र-वाच्यत्वे षड्विधं लिङ्गमप्युदाहृतमेवेति, न पुन-र्विवृतम् ; तथा हि—तत्रोपक्रमसंहारयोरैक्यं "वेद्यं वास्तवम्" अत्र वस्त्विति (श्रीभाग, (१ । १ । २) सर्व्ववेदान्त-सारम् (श्रीभाग, १२ । १२ । १२) इति अभ्यासः, अत्र सर्ग (श्रीभाग, २ । १० । १) इति अपूर्व्वता, वदन्ति तत्तत्त्वविदः—(श्रीभाग, १ । २ । ११)

इति अन्यैरनधिगतत्वात्। अर्थवादफलञ्च "शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्" इत्यनुदाहृतमप्यनुसन्धेयम्। उपपत्तिः दशमस्य विशुद्ध्यर्थमिति।

सन्दर्भं समापयति इतीति, विभजनं दानं बिश्वे ये वैष्णवराजाः तच्छ्रेष्ठाः तेषां सभासु यत् सभाजनं सम्माननं तस्य भाजनं पात्रं, अनुशासनमाज्ञा शिक्षा वा तद्रूपा या भारती तस्या गर्भरूपे तत्सम्भूत इत्यर्थः॥

इति श्रीभागबत-सन्दर्भानुव्याख्यायां सर्व्वसम्वादिन्यां
तत्त्वसन्दर्भो नाम प्रथमः सन्दर्भः॥

श्रीभगवत्सन्दर्भस्य अनुव्याख्या

अथ श्रीभगवत्सन्दर्भमारभते।

(॥ १ ॥) 'तौ'इति,—'तौ' पूर्व्वोक्तरीत्या प्रसिद्धौ।

(॥ ३ ॥) "अथैवम्"इति, 'सत्ता' प्रकाशः।

(॥ १० ॥) "तस्मै स्वलोकं" श्रीभाग, २।९।९ इत्यादिः—अत्र शुद्धसत्त्व-विचारे "सत्त्वं रजस्तम"(श्रीभाग, १२। ८। ४५) इत्यादि मार्कण्डेय-बाक्ये केचिदन्यथा व्याचक्षत इत्यत्र प्राह—

"ननु ब्रह्म-रुद्राबपि मम मूर्त्ती, अतो मामेव किमत्यन्तमाद्रियसे? तत्राह सत्त्वमिति—यद्यपि यद्यपि तवैव मायाकृता एता लीलास्त्वयैव धृताः तथापि या सत्त्व-मयी सैव प्रशान्त्यै मोक्षाय; तदेव सदाचारेण द्रढ़यति— "तस्मा"दिति,—तव 'शुक्लां' 'तनु' श्रीनारायणाख्यां अथ तावकानाञ्च शुक्लां

तनुं नराख्यां यत् यस्मात् सात्वताः सत्त्वमेव पुरुषस्य ईश्वरस्य रूपमुशन्ति मन्यन्ते न चान्यत् रजस्तमश्च, तत्र हेतुः—यतः सत्त्वात् लोको वैकुण्ठाख्यः लोकत्वे सत्यप्यभयञ्च भोगत्वे सत्यप्यात्म-सुखञ्च (स्वामिटीकायां) इति।

तदेतत्तेषामेव स्वारस्यान्तरादिना त्यजति भगवद्विग्रहमिति।

अथ श्रीभगवदाविर्भावे द्वितीयस्कन्ध-प्रकरणसमाप्तावस्य वाक्यस्य चूर्णिकातः प्रागिदं विचार्य्यम्—तत्राद्वय-वादिन एवं वदन्ति—"सजातीय–बिजातीय-स्वगत-भेद-रहितं ज्ञानमेव परं तत्त्वं इति वदन्ति" (श्रीभाग. १।२।११)
इत्यादौ "अद्वय"-पदेन लभ्यते; तच्च भाव-साधनं तर्ह्येव तस्याद्वय-पद-बिशेष लब्धेन सजातीयादि--भेदराहित्येन अनन्तत्वं सत्यमप्युपपद्यते; अन्यथा कारकसाधने ज्ञेय-ज्ञान-तत्साधनैः प्रविभागे सान्तत्वमेव स्यात् तथा कर्त्तृसाधने ज्ञानस्य कर्त्तृतया बिक्रियमाणस्य करणादिसाधने च बास्यादिवज्जडतया प्रतिपन्नस्यासत्यत्वमेव च स्यात्। तस्मात् ज्ञप्त्यवबोध-पर्य्यायं तत् ज्ञानं नाम तत्त्वं शक्तिमदिति न युज्यते, "स्वरूपभूतयैव शक्त्या युज्यते" इति चेत्—काचित् स्वरूपशक्तिः? सा च किं तदतिरिक्ताऽनतिरिक्ता वा? आद्ये कथं स्वरूपत्वं अन्त्ये च कथं शक्तित्वम्?

अथ साधितायाञ्च भेदेन स्वरूपशक्त्यां तस्याः कथं षड्-गुणात्मक-भगमयत्वं येन तद्भगवानिति शब्द्यते? तस्य तत्त्वस्य ज्ञानमात्र-स्वरूपत्वात् सापि ज्ञानैक-स्वरूपैव भवितुमर्हति ततश्च तद्विलासस्य नानात्वं न सम्भवति; कथमपि नानात्वे च ईशितादि-लक्षण-क्रियागुणत्वं तस्या न युज्यत एव।

किञ्च नील-पीताद्याकारत्वं परिच्छिन्नत्वञ्च तस्य निषिद्धम्। संप्रति तु तत्राद्वर्णतापरिच्छिन्न-चतुर्भुजाद्याकारता च कथम-

स्याङ्गीकृता ? अपि च तत्परिच्छदानां द्रव्य-विशेषत्वात् वैकुण्ठस्य लोक-विशेषत्वात् तत्रत्य-जनानाञ्च जीव-विशेषत्वात् कथं तदादीनां तादृशत्वम् ?—तदेवं तस्य तत्त्वस्य पुनरपि तत्तदवस्था-स्वीकारे हस्तिस्नानमिव सर्व्वं जातम्। तस्माद्या शक्तिः कार्यान्यथानुपपत्त्या प्रतीयते, सा तत्त्वातत्त्वाभ्यामनिर्व्वचनीयत्वेन मिथ्यैव न तु स्वरूपभूता; तन्मयञ्च भगादिकमत्रोपलक्षणमेवेति। जहदजहल्लक्षणैव तेनाद्वय-ज्ञानेन भगवतः सामान्याधिकरण्यं युक्तमिति।

श्रीवैष्णवास्त्वेवं वदन्ति—"भावस्वरूपस्यैव तस्य तत्त्वस्य गले-गृहीतन्यायेन स्वरूप-शक्तिस्तावदवश्यमेव तैरप्यङ्गीकार्य्या, जगदादि-कार्य्यदर्शनेन तस्या अवश्यम्भावात् कैवल्ये च दोषापत्तेरिति। तथा हि—शक्तिर्नाम कार्य्यान्यथानुपपत्तिसिद्धो वस्तुनो धर्म्मविशेषः; सा तु सर्व्वस्मिन्नुपादाने निमित्ते च कारणे स्वरूपभूतैव मन्तव्या, कार्य्य-विशेषोत्पत्तौ तत्कारणत्वेन वस्तुविशेष-स्वीकारानर्थक्य-प्रसङ्गात्। विवर्त्तोऽपि रजतादिस्फूर्त्तावधिष्ठानं शुक्त्यादिकमेवाङ्गीक्रियते न चाङ्गारादि; प्रस्तुतेऽपि ब्रह्मण एव जगदधिष्ठानत्वं न त्वन्यस्येति तथैव स्वरूपशक्तित्वं विदितम्।

किञ्च जगद्रूपे विवर्त्ते ब्रह्मणः किञ्चित्करत्वमस्ति नास्ति वा ? नास्ति चेत् अज्ञानेनैव विवर्त्तताम्; किन्तदतिरिक्त-तदङ्गीकारेण ? अस्ति चेत् आयाता तस्य ज्ञानाश्रयस्य शुद्धस्यैव शक्तिः। एवं चाद्वैत-शारीरक-कृताप्युक्तम्—"शक्तिश्च कारणकार्य्य-नियमात्मकल्प्यमाना नान्याप्यसती कार्य्यं नियच्छेत् असत्त्वाविशेषात् अन्यत्वाविशेषाच्च, तस्मात् कारणस्यात्मभूता शक्तिः शक्तेश्चात्मभूतं कार्य्यमिति। किञ्च यत्र चैतन्यं तत्रैव ज्ञानमिति नियम-दर्शनेन तत्सत्तापि तत्र एवेति पर्य्यवसानात्तस्याः स्फोर-

कतालिङ्गेन स्वरूप-शक्तिरुपलभ्यते।

अतएव अथ कस्माद्रुच्यते "ब्रह्म बृंहति बृंहयति" इति श्रुतिश्च, "बृंहत्त्वाद्बृंहणत्वाच्च यद्ब्रह्म परमं बिदुः" इति बिष्णुपुराणं च बृहत्त्वेन शक्तिमत्त्वं शर्शयति ! तत्सन्निधान्-बलेनैव तथा तथा-भावेऽन्येषामङ्गीकृतेऽपि शक्तिरेव पर्य्यवस्यतीति। तथैव व्याख्यातम्— प्रवृत्तेश्चेत्यत्राद्वैतशारीरक-कृतापि-"ननु देहादि-संयुक्तस्यापि आत्मनो बिज्ञान-रूप-व्यतिरेकेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेर-नुपपन्नं प्रवर्त्तकत्वमिति चेत् ?—न; अयस्कान्तादिवद्रूपा-दिवच्च प्रवृत्ति-रहितस्यापि प्रवर्त्तकत्वोपपत्तेः" इति।

ननु येन जगद्रूपेण कार्य्येण यदज्ञानमङ्गीक्रियते वस्तुत-स्तयोर्द्वयोरप्यसत्त्वात्तत्प्रवर्त्तकादि-लक्षिता शक्तिरपि ब्रह्मणो नास्त्यवेति चेत्? न,—तथा च सति जगज्जन्मादिलक्षितस्य तस्याप्यसत्त्वप्रसङ्गः। सति च तस्मिन्नज्ञानतत्कार्य्यातिरिक्तत्वेन स्वरूप-भूतायास्तथा स्थितिर्दुर्णिवारैव विरोधिनोऽसत्त्वात्। न हि सवितृप्रकाशः प्रकाश्यनाशे नश्यति; सवितैव तिष्ठतीति युक्तं, तथाऽर्द्ध-कुक्कुटीबदुपहास्यं चेदं स्यादिति।

तदुक्तमद्वैतशारीरके—"असत्यपि कर्म्मणि सबिता प्रका-शत" इति कर्त्तृत्वव्यपदेशदर्शनादेव। सत्यपि ज्ञान-कर्म्मणि ब्रह्मणः "तदैक्षत"— इति कर्त्तृत्व-व्यपदेशोपपत्तेर्न दृष्टान्त-वैषम्यम् इति। (ब्रह्म-सू. १।१।५ शां भाः) तथा तदीय-सहस्रनामभाष्ये—"स्वरूप-सामर्थ्येन न च्युतो न च्यवते न च्यविष्यते इत्यच्युतः"— 'शाश्वतं शिवमच्युत'मिति श्रुतेरिति।

तस्माद्वस्तुनः शक्तिः कार्य्य-पूर्व्वोत्तरकालेऽपि मन्त्रादेरि-वास्त्येव, कार्य्य-कालं प्राप्य तु व्यक्तीभवतीत्येव विशेषः,—तद्-ब्रह्मणोऽपि भविष्यति।

एवमद्वैतशारीरकेऽप्युक्तम्-"बिषय-भावादियमचेतयमानता,-

न चैतन्याभावादिति"। किञ्च शक्तेरप्युत्पत्तिनाशाभ्युपगमे कार्य्यत्वमेव स्यात्, नतु कारणत्वम्। ततस्तस्याः स्वरूपहानिश्च। किञ्च ज्ञानवदाश्रयज्ञानं सम्भवति न ज्ञानमात्राश्रयमिति। तेनैवाज्ञानेन तद्विलक्षणज्ञानमपि तत्रावश्यं भवेत् इत्यतोऽपि तत्र भवेच्छक्तिः।

अपि चः—चिन्मात्रब्रह्मव्यतिरिक्तकृत्स्ननिषेधविषयज्ञानस्य कोऽयं ज्ञानी? अध्यासस्वरूप एवेति चेत्,—न तस्य निषेधतया निवर्त्तकज्ञानकर्म्मत्वात् कर्त्तृत्वानुपपत्तेः। ब्रह्मस्वरूपमेवेति चेत्—ब्रह्मणो निवर्त्तकज्ञानं प्रति ज्ञातृत्वं किं स्वरूपमुताध्यस्तम्? अध्यस्तं चेत्—अयमध्यासस्तन्मूलविद्यान्तरञ्च निवर्त्तकज्ञानापेक्षया तिष्ठत्येव, निवर्त्तकज्ञानान्तराभ्युपगमे तस्यापि त्रिरूपत्वात् ज्ञात्रपेक्षयानवस्था स्यात्। ज्ञातृत्वस्य ब्रह्मस्वरूपत्वे अस्मदीय एव पक्षः परिगृहीतः स्यात्।

किञ्च नित्यं ज्ञानमेव सर्व्वस्फुर्त्तौ कारणमिति,—तथाभूतस्य ज्ञानस्य केनाप्यप्रमेयत्वात् प्रमाणैरन्यापोहेऽपि निकृष्टवस्त्वस्पर्शेन शून्यप्रतीतिमात्रस्यानर्हत्वात् विवेकावस्थायां यत् तस्यास्तित्वेन प्रत्ययनं तत् पारिशेष्यप्रमाणेन स्वयमेव भवेदिति वास्त्येव तादृशी शक्तिः। कैवल्ये तु सा निरावरणा भविष्यतीति युक्त्या लभ्यते। अतएव तादृशशक्तितया विलक्षणवस्तुत्वेन वस्त्वन्तरवत् स्वात्मनि क्रियाविरोधश्च नाशङ्कनीयः प्रकाशवस्तुनः स्वप्रकाशनवत्। अथ कैवल्येऽपि दोषो यथा;—तत्रानन्दसत्त्वैव केवलानन्तानन्दस्फूर्त्तिः। ततश्च तदा तस्य स्वस्मिन्नस्फूर्त्तेर्विषयेन्द्रियवज्जड़त्वमेव तत्र पर्य्यवसति। तथा तदाऽपराभावात् स्वस्मिन् परस्मिंश्चास्फूर्त्तेः शून्यत्वं वा। अतः कस्यचित्तथा पुरुषार्थसाधने प्रवृत्तिरपि न स्यात्। तस्मात् युष्माभिरपि स्वरूपावस्थानलक्षणस्य पुरुषार्थत्वं श्रूयते इति श्रुतार्थान्यथानुपपत्त्या च स्वरूपशक्तिर्मन्तव्यैव।

ननु स्वप्रकाशत्वादेव तद्भासिष्यते कृतं शक्त्येति चेत्, एवमपि निगृहीतोऽसि वाग्वागुरया । यस्मात् स्वप्रकाशत्वात् स भासिष्यते तदेवास्माकं स्वरूपशक्तिरिति स्वयमेव कण्ठे प्रतिबद्धत्वात् । न च स्वप्रकाशत्वं विना स्वप्रकाशं नाम वस्त्वस्ति ।

अथ स्वप्रकाशत्वं नाम परानपेक्षासिद्धिरेव न तु वस्त्वन्तरमित्यादिपक्षेऽपि सिद्धिप्रभृतयोऽपि सैवेति । किञ्च निर्बिशेषप्रकाशमात्रब्रह्मबादे तस्य प्रकाशत्वमपि दुरुपपादम् । "प्रकाशो"ऽपि नाम, स्वस्य परस्य च व्यवहार-योग्यतामापादयन् "वस्तुविशेषः" । निर्व्विशेषवस्तुनस्तदुभयरूपत्वाभावात घटादिवदचित्त्वमेव । तदुभयरूपत्वाभावेऽपि तत्क्षमत्वमपि चेत ? तन्न-तत्क्षमत्वं हि तत सामर्थ्यमेव । सामर्थ्यगुणयोगे हि निर्व्विशेषबादः परित्यक्तः स्यादिति । तथा निर्व्विशेषबादे स्वाभ्युपगतानित्यत्वादयश्च निषिद्धाः स्युरिति च । अपि च— निर्व्विशेषवस्तुवादिभिर्निर्व्विशेषवस्तुनीदं प्रमाणमिति न शक्यते बक्तुम् । सविशेषवस्तुविषयत्वात् सर्व्वप्रमाणानाम् (श्रीभाष्यं वे. को. प्रः खः २६ पृ) तेषां निर्व्विशेषविषयत्वे च प्रमेयत्वापातेन नश्वरत्वमेव भवन्मतं ब्रह्मण्यपि स्यात् ।

यत्तु स्यानुभवसिद्धमिति स्वगोष्ठीनिष्ठसमयः, सोऽप्यात्मसाक्षिकसविशेषानुभवादेव निरस्तः । (श्रीभाष्यं वे को प्रः खः २६ पृ) किञ्च बिबादाध्यासितं ब्रह्म सविशेषं वस्तुत्वात् घटादिवत् अविशेषं यत्तादसत् प्रमाणासिद्धत्वात् शशविषाणादिवत् । शब्दस्य तु विशेषेण सविशेष एव वस्तुन्यभिधानसामर्थ्यम्, पदवाक्यरूपेण प्रवृत्तेः, प्रकृतिप्रत्यययोगेन हि पदत्वम् । प्रकृतिप्रत्ययोरर्थभेदेन पदस्यैव विशिष्टार्थप्रतिपादनमवर्ज्जनीयम्, पदभेदश्चार्थभेदनिवन्धनः, पदसङ्घातरूपस्य बाक्यस्यानेकपदार्थसंसर्गविशेषाभिधायित्वेन निर्व्विशेषवस्तु-

प्रतिपादनसामर्थ्यात् न निर्व्विशेषवस्तुनि शब्दः प्रमाणम्" । इति (श्रीभाष्यं वें कों प्रः खः ८६ः पृ)

तस्मात् सविशेषत्वम् एव सिद्धम्,—स च विशेषः—शक्तिरेव। ततश्च शक्तिलेशं विना न कचिदवगम्यते वस्तुतत्त्वमिति सर्व्वानुभवसिद्धम् । श्रुतिश्च केवलस्यैव तस्य स्वानुभवमभिदधाति,—"ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावदहं ब्रह्मास्मि"इति (वृः आः उः, १।४।१०)

"न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्व्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्। न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्"। (वृः आः उः, ४।३।२३) श्रीमध्वाचार्य्यानुसृतं व्याख्यानम्—"उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्" इति (ब्रह्मसू. ३।२।२७) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैः उः २।१।१) "यः सर्व्वज्ञः" (मुः उः १।१।९,) "एष एवात्मा परमानन्दः" (वृः छाः मैत्रेयः) "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्", (— तैः उः २।४।१,) इत्यादावुभयव्यपदेशात् युज्यते ब्रह्मणो ज्ञानादित्वं ज्ञानादिमत्त्वञ्च। तु शब्दः श्रुतिरेवात्र प्रमाणम्—इति निर्द्धारयति। अतः स्वस्मिन्नेवाभेदभेदनिर्द्देशलक्षणोभयव्यपदेशादहिकुण्डलवत्त्वं भवितुमर्हति । यथा,— अहिरित्यभेदः, कुण्डलाभोगप्रांशुत्वादिभिर्भेद एवमिहापि"।

"प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्" इति—(ब्रह्मसू. ३।२।२८) इति अथवा प्रकाशाश्रयवदेतत् प्रतिपत्तव्यम्। यथा,—प्रकाशः सावित्रस्तदाश्रयः सविता च नात्यन्तभिन्नौ उभयोरपि तेजस्त्वाविशेषात् । अथच भेदव्यपदेशभाजौ भवत एवमिहापीति । (शाङ्करभाष्यम्)।

पूर्व्ववद्वा— (ब्रह्मसू. ३।२।२९) इति अथवा "स्वात्मना चोत्तरयोः" (२।३।२० ब्रह्मसू.) इत्यत्रोत्तरशब्दवद-

नन्तरमेवोक्तयोः प्रकाशाश्रययोः पूर्व्वो यः प्रकाशः तद्वदेव मन्तव्यम्। ततश्च तस्य यथाप्रकाशैकरूपत्वेऽपि स्वपर-प्रकाशन-शक्तित्वमुपलभ्यते एवं ज्ञानानन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽपि स्वपरज्ञानानन्दहेतुरूपशक्तित्वम्।

अत्र स्वयं स्वं जानातीति स्वार्थस्फूर्त्तिरिति प्रकाशवत् पारार्थ्यमात्रमिति विवेक्तव्यम्। तदेवमुभयव्यपदेशात् साधयित्वा श्रुत्यन्तरतश्च साधयति—"प्रतिषेधाच्च" इति (ब्रह्मसू. ३।२।३०) न च वक्तव्यं तत्र सर्व्वज्ञत्वादिवस्त्वन्तरम्; यतो नेह नानास्ति किञ्चन" इति (वृः आः उः ४।४।१९) तथा—

"न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"॥ (श्वेताश्वः उः ६।४)इति।

"च" कारेण त्वज्ञानादिकं प्रतिषिध्य स्वरूपज्ञानादिशक्तित्वमेव स्थाप्यते। इत्थं श्रीस्वामिचरणैरपि, त्वमर्कदृक्सर्व्वदृशां समीक्षणः (श्रीभाग ८।२३।४) इत्यत्र श्रीमत्स्यदेवस्तुतौ व्याख्यातम्—"अर्कप्रकाशवत् स्वत एव दृक् ज्ञानं यस्य स अर्कदृक् अतः सर्व्वदृशां सर्व्वेन्द्रियाणां समीक्षणः प्रकाशक इति"।

एवञ्च श्रीरामानुजचरणैरुक्तम्—"ज्ञानस्वरूपस्य च तस्य ज्ञातृस्वरूपत्वं द्युमणिदीपादिवद्युक्तमेवेत्युक्तम्"। (श्रीभाष्य वेंकों प्रः खः ५३ पृ) अद्वैतगुरुणापि ईक्षतेर्नाशब्दम् (ब्रह्मसू. १।१।५) इत्यत्र सांख्यपूर्व्वपक्षमाक्षिपतैव व्याख्यातम्; यथा—"यदप्युक्तं प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मणः शरीरसम्बन्धमन्तरेणेक्षितृत्वमनुपपन्नमिति"। न तच्चोद्यमवतरति सवितृप्रकाशवद्ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपनित्यत्वे ज्ञानसाधनापेक्षानुपपत्तेः। अपिच;—अविद्यादिमतः संसारिणः शारीराद्यपेक्षाज्ज्ञानोत्पत्तिः स्यात्, न ज्ञानप्रति-

बन्धकारणशून्यस्येश्वरस्य। मन्त्रौ चेमौ ईश्वरस्य शरीराद्यनपेक्ष-तामनावरणज्ञानताञ्च दर्शयतः—"न तस्य कार्य्य" मित्यादि, "अपाणिपादः" (३। १६ श्वेताश्वः उः) इत्यादीनि ।

ज्ञाननित्यत्वे ज्ञान-विषय-स्वातन्त्र्यव्यपदेशो नोपपद्यत इति चेत्? न। प्रततोष्ण-प्रकाशोऽपि सविता विदहति प्रकाश-यतीति— स्वातन्त्र्यव्यपदेश-दर्शनादिति च । इत्थमेवाद्वैत-शारीरक एव विज्ञानवादनिराकरणे "नाभाव उपलब्धेः" (ब्रह्मसू. २।२।२८) इत्यसत्यव्याख्याने साक्षित्वं चैतन्यस्य दृश्यते । तस्मादेकस्यैव तत्त्वस्य स्वरूपत्वम्, स्वरूपत्वापरित्यागेनैव शक्ति-त्वञ्च सिद्धम।

तथा चोक्तम्—

"चिच्छक्तिः परमेश्वरस्य विमला चैतन्यमेवोच्यते ।
सा सत्यैव परा जड़ा भगवतः शक्तिस्त्वविद्योच्यते ॥
संसर्गश्च मिथस्तयोर्भगवतः शक्त्योर्जगज्जायते
तच्छक्त्या सविकारया भगवतश्चिच्छक्तिरुद्रिच्यते ।।" इति ।

इत्थमेव व्याख्यातं श्रीविष्णुपुराणेऽपि स्वामिपादैः,—

"विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा ।
अविद्या कर्म्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ।"

—विष्णुपु ६।७।६१।

इत्यत्र विष्णुशक्तिः विष्णोः स्वरूपभूता परा चित्स्वरूपा शक्तिः परमपद-परब्रह्मपरतत्त्वाद्याख्या प्रोक्ता।"

"प्रत्यस्तमितभेदं यत् तत्सत्तामात्रम्" (विष्णुपु ६ अंश ७ अः ५३ श्लोक) इत्यत्रः-प्रागुक्तं स्वरूपमेव कार्य्योन्मुखं शक्ति-शब्देनोक्तमिति" । अतः स्वरूपस्य कार्य्योन्मुखत्वेनैव शक्तित्वं न स्वत इत्यायातम्। ततश्च विशेष्यरूपं तदेव स्वयं शक्तिमद्-विशेषणरूपं कार्य्योन्मुखत्वं तु शक्तिः,—जगच्च कार्य्यक्षमत्व-

मूलमिति। तत्क्षमत्वादिरूपा नित्यैव सा शक्तिरित्यवगम्यते।

तथापि वस्तुतोऽत्यन्तव्यतिरेकेण तस्या निरूप्यत्वाभावान्न ततः पृथक्त्वमस्तीत्यभिप्रायेणैव तथोक्तमिति ज्ञेयम्। "वस्त्वेवास्तु,—का तत्र शक्तिर्नाम" इति मतन्तु न वेदान्तिनां मतम्;—सत्यपि वस्तुनि मन्त्रादिना शक्तिस्तम्भादिदर्शनात् युक्तिविरुद्धञ्चैतत्।

तस्मात् स्वरूपादभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद्भेदः—भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदश्च प्रतीयत इति शक्ति-शक्तिमतोर्भेदाभेदावेवाङ्गीकृतौ तौ च अचिन्त्यौ इति।

केवलाभेदे—

"ज्ञातश्चतुर्व्विधोराशिः शक्तिश्च त्रिविधा गुरो।
विज्ञाता चैव कार्त्स्न्येन त्रिविधा भावभावना॥ इति
[विष्णुपु', ६।८।७]

श्रीमैत्रेयस्यानुवादेऽपि पौनरुक्त्यदोषहानायासन्निहित-सन्निधापनलक्षणकष्टकल्पना प्रसज्येत। चतुर्व्विधराशिकथनेनैव स्वरूपस्योक्तत्वात्। नागपत्नीस्तुतौ चैवं तैर्व्याख्यातम्। "ज्ञान-विज्ञाननिधये" [श्रीभाग' १०।१६।३६।] इत्यादौ "ज्ञानं ज्ञप्तिः; विज्ञानं चिच्छक्तिः;—तयोनिधये ताभ्यां पूर्णाय। कथं तथात्वम्? अत उक्तम्—ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये; ब्रह्मणे कथम्भूताय? अगुणाय अविकाराय; कथम्भूताय? अनन्तशक्तये; 'प्राकृताय'—प्रकृतिप्रवर्त्तकाय; अप्राकृतायेति वा अप्राकृतानन्त-शक्तियुक्ताय,—अयमर्थः।

अगुणत्वादविकारत्वम्, ब्रह्मज्ञप्तिमात्रत्वात् कारणातीतम्, प्रकृतिप्रवर्त्तकत्वादनन्तशक्तिः; विज्ञान-निधित्वादीश्वरः कारणम्—तदुभयात्मने नम" इति।

श्रीरामानुजीयास्तु शक्तिशक्तिमतोर्भेदमेव वर्णयन्ति—

तथाहि तथाभूतायास्तस्याः स्वरूपान्तरङ्गत्वात् स्वरूपभूतत्वमेव प्रतिपादयन्तीति समानः पन्थाः।

विशेष्यस्यैव चाव्यभिचाररूपत्वेन स्वरूपत्वम्—न केवलं विशिष्यमेवाव्यभिचारितया सम्प्रतिपद्यन्ते इति तस्मादस्त्येव स्वरूपशक्तिः।

न चेत्थं स्वगतेन भेदेनाद्वयताप्रतिज्ञा-विरोधादिदोषः। षड्भावविकारनिषेधेऽप्यस्तित्ववत् सर्व्वथैवापरिहार्य्यत्वात्। दृश्यते चान्यत्रापि कचित्तन्मात्रत्वेऽपि स्वगत-भेद-याथार्थ्यम्,—यथा गन्धात्मनि पृथिवीगुणे—तत्र हि गन्धलक्षणगुणमात्रात्मन्यपि अङ्गुलिनिक्षेपात्क्रमस्तदनुभवितुरनुभवैकगम्यो यो यो विशेषो, यो यो वा भेदः—स स न गन्धाद्व्यतिरिक्तः घ्राणैकानुभवनीयत्वात्।

किञ्च ब्रह्मणो लक्षणविचारेऽप्यभेदवादिभिरपि तादृशस्वगतभेदवृत्तिरपरिहार्य्या दृश्यते। तथाहि;—"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" [वृः आः, ३। ९। २८] इति। किमिह विज्ञानानन्दशब्दावेकार्थौ भिन्नार्थौ वा? नाद्यः,—पौनरुक्त्यात्। अन्त्यश्चेत् विज्ञानत्वमानन्दत्वञ्च तत्रैकस्मिन्नेवेति तादृशस्वगतभेदापत्तिः। अथ तौ जाड्यदुःखप्रतियोगिपरौ तौ व्यावर्त्त्य तत्प्रतियोगि यदेकं वस्तु तदेव ब्रह्मेति प्रतिपादयतः तदप्ययुक्तम्। तद्द्वयव्यावृत्तिर्यथा अत्र पक्षे स्वरूपविशेषणमात्रं स्वं द्वयमेवोपस्थापयितुं युक्ता। अनुपस्थापने वा शून्यवादप्रसङ्ग इति।

किञ्च यदेकमुपस्थाप्यते तत् किन्तयोरेकतरत् ताभ्यामन्यदेव वा? एकतरदिति चेत् अन्यतरपरित्यागे को हेतुः? एकतरस्य वा कथं द्विःप्रतियोगिता? अथानन्दमात्रे द्वयोरपि प्रतियोगितोपलभ्यते इति तदेव लाघवेनावशिष्टमिति चेत्?—आनन्दे विज्ञानत्वमप्यस्तीत्यायातम्। तत्प्रतियोगित्वेन तत्प्रतीतेः। ततो

बिज्ञानं पुनरुक्तमेवेति दोषान्तरञ्च तेनैव तत्तद्व्याबृत्तिसिद्धेः। किम्बा बिज्ञानस्य बिज्ञानेऽस्मिंश्चानुगतत्वेनाव्यभिचारात्तदेवा-वशिष्टमस्तु ततश्चानन्दताहान्या पुरुषार्थत्वाभावश्च।

यद्येवमुच्यते—"अनुकूलं विज्ञानमेव ह्यानन्दः, तत-श्चानन्दाकारं यद्विज्ञानं तद्ब्रह्मेति।" तथाप्यानुकूल्यलक्षणो धर्म्मस्तत्र दुष्परिहरः। ताभ्यामन्यदिति चेत्? न। प्रतियो-गित्वासिद्धेः।

अथैक एवमाचक्षीत यत्त्रयोः प्रतियोगि ब्रह्मेति। किन्तु जड़प्रतियोगि बिद्योपहितञ्चेद्ब्रह्म ज्ञानमित्याचक्ष्महे। दुःखप्रति-योगि तदुपहितं चेदानन्द इति। तस्माद्विद्याद्वारोभयव्यावृत्तौ सत्यां यदवसीयते तदेकमेकरूपं ब्रह्मेति।

अत्रोच्यते—बिद्या नाम भवतां तदनुभविबुद्धिबृत्तिः। ततश्च तस्यैव प्रतियोगित्वे सति तदनुभविबुद्धिबृत्तेरपि प्रतियो-गित्वं सिद्ध्यति। नहि सूर्य्यस्य घटादेरिव तमसः प्रतियोगित्वं बिना तदनुभविचक्षुर्बृत्तिमात्रस्य सूर्य्यच्छटोद्दीपितमुकुरच्छटाया वा तमः प्रतियोगित्वं घटते। तस्मान्न्यूनं तस्यैव तत्प्रतियोगित्वं योग्योपाधिबिशेषे तूपलभ्यते।

"नित्यबोध-परिपीड़ितं जगद्बिभ्रमं तुदति बाक्यजा मतिः।
वासुदेवनिहतं धनञ्जयो हन्ति कौरबकुलं यथा पुनः"॥
इति च दृष्टान्तितं भवद्भिरेव।

ततः पूर्व्वबदेब तस्मिन्नुभयधर्म्मापातः। अतो यदेवमा-चक्षीत—"शब्दो हि व्यबहार्य्य एव वस्तुनि प्रवर्त्तते नाव्यब-हार्य्ये जातिगुणादिनिर्द्देशेनैव तस्य प्रबृत्तेः। ततश्च नीलपीता-द्याकाररूपा प्रियदर्शनादिजनितोल्लासरूपा च ये अन्तःकरण-बृत्ती तयोरेव तौ प्रवर्त्तेते न तु ब्रह्मस्वरूपे।

तथा च ताभ्यां शब्दाभ्यां स्वतस्तत्र प्रवेशासामर्थ्ये सति

ब्रह्मशब्दस्य बृहत्त्वनिरुक्तिबलात् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादावनन्तत्वेन च श्रुतत्वाज्जहल्लक्षणया ते अतितुच्छे परित्याज्ये तयोस्त्रिगुणमयत्वेन च जडदुःखैकरूपयोरपि स्वसान्निध्येन तत्तास्फोरकमनिर्द्देश्यमेकरूपमेव वस्तूपस्थाप्यते।

"येन चेतयते विश्वं" "एष ह्येवानन्दयति" इति [तैः उः, २।७।१] शब्दश्च तथा तस्मात्तत्त्वादुपाधिपरित्यागायैव शब्दद्वयोपन्यासो;—न तु द्विधर्म्मता-विवक्षया। तथा तत्त्वादुपाधावेव तत्त्वाद्भेदव्यवहारो न तूपहिते तत्रेत्येतदपि परिहृतं भवति।

यदि च तत्र तत्रासम्भूतापि सत्ता तत्सान्निध्ये स्फुरतीति मतं तर्हि तस्मिन्नपि तत्तद्धर्म्मास्तिता एव स्वीकृता। दर्पणप्राङ्गणादिषु सञ्चारितस्वदीप्तताशुभ्रतादिकचन्द्रिकासन्दोहवत् तत्र दीप्तिः शुभ्रत्वमप्यस्तीत्येव सञ्चारितं तत्तद्धर्म्मत्वमुपलभ्यते अन्यत्र दीपप्रभादौ न तु शुभ्रत्वमिति।

दार्ष्टान्तिकेऽपि नीलाद्याकारायामुल्लासरूपायाञ्चान्तर्वृत्तौ जडप्रपियोगगम्यतया दुःखप्रतियोगगम्यतया च अन्योऽन्यं भेदवृत्तिं जनयन् यो यो भावविशेष उपलभ्यते स स उपाधिभूतयोस्तयोस्त्रिगुणमयत्वेनातद्धर्म्मत्वादतदपोहे तस्य तस्यावशिष्यमाणत्वेन स्वप्रकाशत्वेन च शुद्धत्वादुपहितरूपमेवेत्यवसीयते।

ततश्च तत्र तत्र पार्थक्येनोदयादस्त्येव स्वरूपधर्म्मभेदः। तत्रापि लीलाद्याकारवृत्तौ पार्थक्यमतिस्फुटमेव। यदि तत्र जडप्रतियोगितादुःखप्रतियोगितयोर्भेदो न स्यात्, तदा तस्यामपि वृत्तौ सुखमुपलभ्यतैव स्वगतैकदेशानङ्गीकृतेरेकदेशोदयविरोधात्। अतएव "आनन्दादयः प्रधानस्य"— [ब्रह्मसू ३।३।११] इति भेदेनाप्युपक्रान्तवन्तः सूत्रकाराः।

यदि चैवमुच्यते—न तत्ज्ञानानन्दरूपं न च जडदुःखप्रति-

योगि यथा च जड़दुःखविलक्षणं तदिति,—तदा न किञ्चिदपि स्यादिति शून्यवादप्रसक्तिः।

किं बहुना परमप्रमाणभूतस्य वेदस्य स्वारस्यमेव केवलैक्ये नास्ति,—सर्व्वस्यैव वाक्यस्य लक्षणयान्यथींक्रियमाणत्वात्। ततश्च परमाप्तताविरहात्—अत्र, तु तत्रापि स्वरूपलक्षणत्वमेव। ततो विज्ञानमितीदं वाक्यं न किञ्चिदपि व्यवधानं सहत इति साक्षादेव तत्तादभिधाने पर्य्यवसिते कथमिवान्या गतिक्रियोपपद्यताम्? न च "जातिगुणादिहीनतया तत्र शब्दः साक्षान्न प्रवर्त्तेत" इति यद्वाक्यं स्वरूपशब्दवत्तस्य स्वरूपालम्बनसङ्केतेन च प्रवर्त्तयितुं शक्यत्वात्। यत्तु "यतो वाचो निवर्त्तन्ते"—[तैः उः, २। ४। १] इत्यादिकं श्रूयते, तदिदमीदृशमियत्परिमाणं वेति निर्द्देशासामर्थ्यपरमेव अलौकिकत्वादनन्तत्वात्।

अग्रेऽपि सयुक्तिकविचारणात् स्वयमेव भवता तत्ता-शब्देन परामृष्टायाः सुखतायाः स्फोरकमनिर्द्देश्यमव्यवहार्य्यं वस्त्वेकमित्युक्त्वा तत्तच्छब्दप्रवर्त्तनात्। "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" [बृः आः ४। ३। ३२] इत्यादिषु श्रुतिष्वपि तत्रैव मुख्यवृत्त्यानन्द-शब्द-प्रवृत्ति-दर्शनात्। "अदृष्टमव्यवहार्य्यमव्यपदेश्यं सुखम" इत्यादिष्वपि तथाभूतत्वेऽपि सुख शब्दप्रयोगात्। "आनन्दमयोऽभ्यासात्" [ब्रह्म सूं १। १। १२] इत्यादिन्यायप्रसिद्धाच्च। किञ्चेदं पृच्छामः,—तदानन्दरूपं भवति न वा? भवति चेत्, आयाता तस्य तत्संज्ञा दुःख-प्रतियोगित्वञ्च; नेति चेत्,—अपुरुषार्थत्वम। तस्मादानन्दरूपं भवति। किन्तु न लोक-प्रसिद्धानन्दरूपं तदित्येव वाच्यमिति स्थिते त्वस्माकमेव समीचीनः पन्थाः। एवं "सत्यं ज्ञानमनन्तं" [तैः उः २। १। १] इत्यत्रापि सत्यत्वादिधर्म्मभेद-

स्तत्र विवेचनीयः । अत्राप्यसत्य-जड़-परिच्छिन्नव्यावर्त्तनमपि धर्म्मविशेष एव ।

यद्येवमुच्यते यथा—शौक्लादिकस्य कार्ष्ण्यादिव्यावर्त्तनमपि तत्पदार्थस्वरूपमेव न धर्म्मान्तरं तथेति, तदा तद्व्यावृत्तियोग्यतास्तीत्यवश्यं मन्तव्यम् । योग्यता च,—शक्तिरेवेति "घट्टकुट्यामेव प्रभातम्" । एवमेवोक्तं श्रीरामानुजशारीरकभाष्ये—"सविशेषोऽप्यनुभूयमानोऽनुभवः केनचिद्युक्त्याभासेन निर्व्विशेष इति निष्कृष्यमानसत्तातिरेकिभिः स्वासाधारणैः स्वभावविशेषैः निष्क्रष्टव्य इति निष्कर्षहेतुभूतैः सत्त्वातिरेकिभिः स्वासाधारणैः स्वभावविशेषैः सविशेष एव अवतिष्ठते । अतः कश्चिद्विशेषैर्व्विशिष्टस्यैव वस्तुनोऽन्ये विशेषा निरस्यन्ते इति न क्वचिन्निर्व्विशेषवस्तुसिद्धिरिति ।" [श्रीभाष्य, वें कं १ म खण्ड, ५४ पृः]

तत्रैवान्यत्रोक्तम्—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' [तैः उः २ । १ । १] इत्यत्रापि सामानाधिकरण्यस्यानेकविशेषणविशिष्टैकार्थाभिधानवुत्पत्त्या न निर्व्विशेषवस्तु- सिद्धिः । "प्रवृत्तिनिमित्तभेदेनैकार्थवृत्तित्वं हि समानाधिकरण्यम्",—तत्र सत्यज्ञानादिपदमुख्यार्थैर्गुणैस्तत्तद्गुण—विरोध्याकारप्रत्यनीकाकारैर्व्वा एकस्मिन्नेवार्थे पदानां प्रवृत्तौ निमित्तभेदोऽवश्याश्रयणीयः। इयांस्तु विशेषः—एकस्मिन् पक्षे पदानां मुख्यार्थता; अपरस्मिश्च तेषां लक्षणा । न चाज्ञानादीनां प्रत्यनीकता वस्तुस्वरूपमेव; एकेनैव पदेन स्वरूपं प्रतिपन्नमिति पदान्तरप्रयोगवैयर्थ्यात् । तथा सति सामानाधिकरण्यासिद्धिश्च, एकस्मिन् वस्तुनि वर्त्तमानानां पदानां निमित्तभेदानाश्रयणात् । न चैकस्यैवार्थस्य विशेषणभेदेन विशिष्टताभेदादनेकार्थत्वं पदानां सामानाधिकरण्यविरोधि; एकस्यैव वस्तुन अनेकविशेषणविशिष्टता-

तत्र संशयः—किमिदमानन्दमयशब्देन परमेव ब्रह्मोच्यते ? किम्वान्नमयादिवद्ब्रह्मणोऽर्थान्तरमिति ? तत्र ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठेति, ब्रह्मशब्दयोगबलेन पुच्छशब्दस्यपादिष्टस्यैव ब्रह्मत्वं लब्ध इति उच्यते । "आनन्दमयोऽभ्यासात्" ब्रह्मशब्दोऽत्राधिकारलब्धः । स चानन्दमय इति प्रथमान्तपाठात् प्रथमान्त एव अनुस्मर्य्यते । "आकाशस्तल्लिङ्गात्" [ब्रह्म सू. १ । १ । २२] इत्यादिवत् ।

ततश्चायमर्थः—आनन्दमयसन्निधाने "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय" इति [तैः उः २ । ६ । १] । तदा तदपेक्षत्वादुत्तरग्रन्थेऽपि—"रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" इति । [तैः उः २ । ६ । १]

तत्प्रभृत्यन्ते चैतमानन्दमयमुपसंक्रामतीति । तथा चतुर्व्वेदशिखायामपि—"स शिरः स दक्षिणः पक्षः स उत्तरः पक्ष स आत्मा स पुच्छं" इति चाभ्यासश्रवणादानन्दमय आत्मैव परब्रह्म; "असन्नेव स भवति" इत्यादिकं [तैः उः २ । ६ । १] त्वर्थवादः प्रशंसावाक्यमेव, नाभ्यासवाक्यं श्लोकशब्देनोक्तत्वात् प्रशंसागर्भत्वाच्च । पुच्छ एव ब्रह्म, शब्दसंयोगस्तु तत्रानन्दस्य सम्यगुदयोत्कर्षव्यञ्जकः । अतः प्रतिष्ठात्वञ्च अतः पुच्छत्वोमपि सर्व्वोत्तरोदयित्वादेव रूप्यते । ततश्च तदेव पुच्छं स एव प्रियादीनां निजोदयविशेषाणामवयवी सन्नानन्दमय इत्यायातम् । किन्तु पुच्छसंज्ञे तस्मिन्निर्विशेषतया आविर्भावादवयवत्वनिरूपणम् ।

आनन्दमये तु प्रियादिभिः सविशेषतयैव प्रकटोपलम्भादवयवित्वनिरूपणमित्येव विशेषः । तस्मादनेनानन्दमयाधिकरणेन परब्रह्मण एव शुद्धोदयविशेषत्वं साध्यं प्रियादिषु, तद्व्यतिरिक्तत्वं तु अन्नमयादिषु ।

न च प्रियादीनामिष्टपुत्रदर्शनजादिलक्षणलौकिकानन्दत्व-

र्चितम्। पारमार्थिकपथारोहानुक्रमप्रक्रियाया एव पूर्व्वपूर्व्वात्म-सूपक्रान्तत्वात्। यथा "तस्य यजुरेव शिर" इत्यादि।

अतएवालौकिकविशेषवत्त्वे सति तस्य "यतो बाचो निवर्त्तन्ते" इत्यादिर्महिमा च सङ्गतः स्यात्। अत्रानन्दस्यैकस्यैबोदयापचयोपचयमात्रविवक्षितत्वेन प्रियादिभेदान्न विज्ञानमयादिवत् पृथग्गुणत्वम्। अतएव तृतीये अध्याये तृतीयपादे सूत्रकारैरप्यानन्दादयः प्रधानस्येत्यनेनानन्दादीनामेकत्रोक्तानामपि सर्व्वत्रोपासनायां समाहृतिश्चिन्तिता। प्रियादीनान्तु सा परिहृता। प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ भेदे [ब्रह्म सू ३।३।१२] इत्यनेन तत्रैकस्यैवान्नमयादिक्रमोपासकस्य उपासनाभूमिकारोहस्तानाभेदे हि प्रियादिशब्दस्तस्यैव आनन्दमयस्य ब्रह्मणः उदयोपचयापचयौ बिबक्षितौ। ततो नान्यत्रोपासनायां तेषां "आनन्दादयः प्रधानस्य"[ब्रह्म सू ३।३।११] इति न्यायेन प्राप्तिरित्यर्थः। नन्वेतमानन्दमयमुपसंक्रामतीत्यस्याः श्रुतेः परब्रह्मविषयत्वं नास्ति बिकारात्मनामन्नमयादीनामुपसंक्रमितव्यानां प्रवाहपतितत्वात्;—नैवं, तत्प्रवाहपतितत्वेऽपि सर्व्वान्तरत्वात् अरुन्धतीदर्शनवत् प्रतिपाद्यरूपत्वमेव प्रसज्जेत। न चोपसंक्रमकार्थत्वेन तस्य परत्वं प्रतिहन्यते—तदाबिर्भावमात्रार्थत्वात्—यथा "ब्रह्मबिदाप्नोति परम्"—[तैः उः २।१।१] इति।

किञ्च "उपसंक्रमबचन एव बिदुषो ब्रह्मत्व-प्राप्ति-फलनिर्द्देशात् तस्यान्यथात्वं न युज्यते। आनन्दमयोपसंक्रमनिर्द्देशेनैव पुच्छप्रतिष्ठाभूतब्रह्मप्राप्तिर्निर्द्दिष्टेति चेत्—श्रुतिः कदर्थिता स्यात्। पुच्छवादिनामपि पुच्छप्रबाह-पतितत्वेन ब्रह्मणोऽपि पूर्व्ववत् पुच्छत्वमेवापतेत। तत्र यदि बचनान्तरस्वारस्येनावयवता स्यात्—इहापि पूर्व्वदर्शितत्वेन भविष्यति। तथा "तस्यैव एष

एव शरीर आत्मा यः पूर्व्वस्य तस्माद्वा एतस्मात्" [तै आनन्द-वल्ली, ५ म] इत्यनेनात्मत्वेनोपक्रान्ततयानन्दमयस्यैव सर्व्वत्र शारीरत्वं प्रतिपद्यते । श्रुतिनिर्द्दिष्टपृथिव्यादिलक्षणशरीरान्तर्यामित्वापेक्षयेति शरीरत्व-श्रवणमपि न दोषाय । यद्वानन्दमयेत्वेऽपि "तस्यैष एव शारीर आत्मा"—इत्यनेन तस्याप्यात्मान्यः श्रूयते, तच्च तस्यात्मान्तरं नास्तीति विवक्षया;—शिलापुत्रस्य तु शिलापुत्र एव शरीरमितिवत् । यथान्येषामन्नमयस्य प्रसिद्धशारीरत्वनिषेधस्तु—"नेतरोऽनुपपत्तेः" [ब्रह्म सू° १ । १ । १७] इत्यादौ स्वयमेव सूत्रकारैः करिष्यते ।

तस्मादानन्दमयशब्देन परब्रह्मवोच्यते । तथा "सोऽकामयत"— [तैः आः, ६] इति "रसो वै सः" [तैः उः २ । ६ ।-१] इति पुंलिङ्गेनैव निर्द्देशादपि स एव, न तु पुच्छम् । तत एतमानन्दमयमित्यत्रान्तिमवाक्ये च तन्निर्द्देशः संवदते । "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः" इत्यस्मादात्मशब्दाकर्षेण तन्निर्द्देशगतिश्च विप्रकर्षातिशय एव पराहतः ।

किञ्च—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"ति [तैः आनन्दवल्ली, १] यल्लक्षितं तदेव "तस्माद्वा एतस्माद्वा एतस्मादात्मनः" इत्यनेन निर्दिश्यते । तस्य च सर्व्वान्तरत्वेनात्मत्वं व्यञ्जयद्वाक्यं तं तमतिक्रम्य "अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय" [तैः आः ५ । २] इत्यानन्दमय एवात्मत्वं समापयति । तत आत्माशब्द-कर्षणेनापि स एवाद्यतः स्यात् । न चात्मत्वेनानिर्द्दिष्टं पुच्छमिति ।

एवं श्रुतिभिरपि "पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः सदसतः परन्तमथ यदेष्ववशेषमृतं" [तैः उः, २ । २ । १] इत्यत्रान्नमयादिसाहोदर्य्यात् चरमोऽयं इति पुंलिङ्गनिर्द्देशाच्चानन्दमय एव परं ब्रह्मेत्यङ्गीक्रियते ।

चतुर्व्वेदशिखा तु स्पष्टमेव व्याचष्टे 'सशिर' इत्यादिना ।

तस्मादानन्दमय आत्मा परब्रह्मैवेति स्थितम्।

अथ तत्राप्याशङ्क्य सूत्रयति—"विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्य्यात्" [ब्रह्मसू, १। १। १३] अत्र प्राचुर्य्य एव मयड्विहितः—न विकार इत्यर्थः। तदेकवस्तुन्यपि प्राचुर्य्यं युज्यते। "प्रचुरप्रकाशो रविः" इतिवत् प्राचुर्य्यं ह्यत्र प्रकाशस्य चन्द्राद्यपेक्षया। ततश्च प्रकाशः प्राचुर्य्येण प्रस्तुतोऽत्रेति विवक्षया "प्रकाशमयो रविः" इत्यपि स्यात्।

"तत्प्रकृतवचने मयट्" [पा सू, ५। ४। २७] इति स्मृतेर्व्विषयत्वं दृश्यते इति। अत्रेति भेदविवक्षा च प्रतिमायाः शरीरमितिवत् प्रयुज्यते च। "ब्रह्म-तेजोमयं दिव्यम्"इति श्रीहरिवंशे "आत्मा ज्ञानमयः शुद्धः" इति दशमेऽपि [श्रीभागवते, १० म, ४७ अः, ३१] अतएव 'तत्प्रकृत' [पा सू ५। ४। २७] इति कर्म्मधारयत्वेनापि व्याख्यायते।

तदेतत् विवृतं श्रीरामानुजश्रीपादैः "तत्प्रचुरत्वं हि तत्प्रचुरत्वं तच्चेतरस्य सत्तां नावगमयति; अपि तु तस्याल्पत्वं निवर्त्तयति।

इतरसद्भावासद्भावौ तु प्रमाणान्तराबसेयौ। इह च प्रमाणान्तरेण तदभावोऽवगम्यते। "अपहतपाप्मा" [छाः ८। १। ५] इत्यादिना तावदेव वक्तव्यम्।

ब्रह्मानन्दस्य प्रभूतत्वमन्यानन्दस्याल्पत्वमपेक्षत इति। उच्यते च तत्—"स एको मानुष आनन्दः" [तै, आ, ८ अनु] इत्यादिना जीवानन्दापेक्षया ब्रह्मानन्दो निरतिशयदशापन्नः प्रस्तुत (श्रीभाष्यम्) इतीति।

अतएवानन्दमय' प्रस्तुत्य "रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति। कोह्येवान्यात्कः प्राण्यात्" [तैः आः ७। १] "यदेष आकाश आनन्दो न स्यात एष ह्येवानन्दयति" [तैः आः, ७ अनु], "सैषानन्दस्य मीमांसा भवति" [तैः आः, २। १। ८]

एतमानन्दमयमुपसंक्रामयति "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्च न" [तैः आः, ६ अनु] इत्यानन्दानन्दमययो रेकार्थताविन्यासेनाभ्यासो दृश्यते।

"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजनात्" [तैः भृगुवल्ली] इति, "अन्नं ब्रह्मेति व्यजनात्" [तैः भृगुः] इत्यादिवत् तत्त्वमेव स्फुटमभ्यस्यति। तदेकस्वरूपेऽप्यानन्दमये प्रियादिभेदश्च प्रातस्त्यसाङ्गवीयमाध्याह्निकभेदवद्भावानुप्रकाशे।

अतएवैतस्मिन्नानन्दमये वस्त्वन्तराभावविवक्षयैवोक्तम्—"यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति" [तैः २।७।१] इति। किम्वा "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्ते अनिलये अभयप्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति" [तैः, २।७।१] इति पूर्व्वोक्तेः सर्व्वथा तन्निष्ठैव कर्त्तव्या। तत्र व्यवधानकर्त्तुर्भयं भवतीत्यर्थः। तदुक्तं श्रीपराशरेण,—

"सा हानिस्तन्महच्छिद्रं स मोहः स च विभ्रमः।
यन्मुहूर्त्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते॥"—इति॥
—गरुडपुराणे, पूर्व्वखण्डे, २।२।२२।

तस्मात् प्रभूतानन्द एवानन्दमयः। अथवा अत्रानन्दमयशब्देन प्रियादिषु य आत्मा प्रोच्यते स एव गृह्यते। ततश्च तस्य प्रियादिभ्यो भेदविवक्षया चात्मतया च तत्प्राचुर्य्यमन्नमयो यज्ञ इतिवदेव संगृह्यते—अभेदविवक्षया त्वानन्दत्वेनाभ्यासोऽपीति।

ननु विकारार्थमयट्प्रवाहान्तःपतितत्वादकस्मादर्द्धजरतीवत् प्राचुर्य्यार्थो न युज्यते—नैवं—पूर्व्वोदाहृताभ्यास-बलात् युज्यत एव। प्रवाहप्रवेशे तु ब्रह्मपुच्छमित्यत्र पुच्छशब्दोऽपि दुष्येदित्यवोचामः—

किम्वान्नमयादिष्वपि न सर्व्वत्र विकारार्थताधिगम्यते। तन्म-

तेऽपि प्राणमय एव त्यक्तत्वात् ।

तत्र हि प्राणादिषु प्राणवृत्तेः प्राचुर्य्यादेव मयट् । "पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा" [तैः उः २ । २ । १] इत्यत्र च पृथिव्यभिमानि-देवतायां प्राणविकारत्वाभावः ।

स्वमते त्वन्नरसमयस्यापि प्राचुर्य्यार्थता । अन्नरसो ह्यन्नविकारस्तदुपलक्षितत्वेनान्योऽपि तद्विकारो लभ्यते । न च जलादि-विकारप्रचुर इति,—"न द्व्यचश्छन्दसि" [पा' सू', ८ । ३ । १५०] इति छन्दसि बह्वचो विकारार्थे मयट्निषेधात् ।

किञ्च आनन्दशब्देन तत्र शुद्धब्रह्मैव मतं तस्य च विकारो न सम्भवति; तस्मान्न विकारार्थताप्राप्तिः । हेत्वन्तरेण सूत्रयति— "तद्धेतुव्यपदेशाच्च" [ब्रह्म सू, १ । १ । १५] इति । इतश्च प्राचुर्य्यार्थे मयट्, न तु विकारार्थे । यस्मादानन्दहेतुत्वं तस्यैवोपदिशति श्रुतिः—"एष ह्येवानन्दयति" [तैः आनन्दवल्ली, २] इति आनन्दयतीत्यर्थः । यथा,—लोके प्रचुरप्रकाशलक्षणः सूर्य्यादिरेव सर्व्वं प्रकाशयति; न तुच्छप्रकाशलक्षणञ्च द्रतारकादिः ।

न च प्रकाशविकारप्रचुरोऽपि जलादिः । तथा सर्व्वतोऽपि प्रचुरानन्दलक्षणं ब्रह्मैव सर्व्वमानन्दयेत् ।

अनेन हेतु-व्यपदेशेन प्राचुर्य्यस्य स्वरूपातिशयपरत्वमेव व्यज्यते । प्रकाशयुक्तेन च रत्नादिना यत्प्रकाशनम् ,तदपि तत्रस्थितेन प्रकाशेनैव भवति,—नतु पार्थिवांशेन तस्मादानन्द एवानन्दयति; तदेतत् व्यञ्जितं "एव" कारेण,—श्रुत्या,—"एष-ह्येवेति" [तैः आः] । ननु पुच्छे ब्रह्मशब्दसंयोगात्तस्य ब्रह्मेति संज्ञा युक्ता । कथं नामानन्दमयस्य तत्संज्ञा ?

तत्रापि सूत्रयति "मान्त्रवर्णिकमेवच गीयते" [ब्रह्म सूः, १ । १ । १६] इति—

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति" [तैः उः २ । १] मन्त्रवर्णो-

दितं ब्रह्मैवान्नमयादित्वेन गीयते तदधिकारपतितत्वात्।

तथाहि—"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति जीवस्य प्राप्यतया ब्रह्म निर्द्दिष्टम्। "तदेषाभ्युक्ता" इति, तद्ब्रह्माभिमुखीकृत्य प्रतिपाद्यतया परिगृह्य ऋगेषा अध्येतृभिरुक्तेत्यर्थः। "तस्य च तस्माद्वा एतस्मादात्मन" [तैः आरण्यक, ५] इत्यत्रात्म-शब्देनापि निर्द्दिष्टस्य ब्रह्मण आत्मतात्पर्य्यावसानमानन्दमय एव दर्शितम। तत्रैवान्तरतमत्व-समाप्तेः। तस्मात्तत्रैव तत्पर्य्यवसानात्तदानन्दविशेषोपलब्धियुतोदयस्यानन्दमयस्य परब्रह्मत्वं तेन मन्त्रेण सिध्यति।

आनन्दस्यापि ज्ञानाकारत्वात्तस्य चानन्तत्वादिभिर्मिश्रत्वेऽपि तद्रूपत्वान्नार्थभेदश्च; श्रुतिश्च—"प्रज्ञानघन एवानन्दमय" [मण्डुः उः ५] इति। तदेवच ब्रह्मत्वं तत्तद्विशेषोपलब्धिरहितोदये पुच्छेऽपि प्रियादिभ्योऽधिकत्वविवक्षया ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठेत्यनेन पुनर्व्यपदिश्यते,—नतु तस्यैव प्रधानत्वेन। अतएवः—

"असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततोविदुः॥"
[तैः उः २। ६। १]

इत्येष श्लोकोऽप्यानन्दमयपर एव सविशेषस्यैव मुख्यत्वात् मुख्य एव संप्रत्ययाच्च।

नचास्मिन् वाक्येऽपि निर्व्विशेषं प्रतिपाद्यते—अस्ति सत्ता समवायितया निर्द्देशात्
यद्येवं मन्यते,—प्रकाशमात्रत्वमेव हि चिदात्मनः सत्ता,—नान्येति तथापि सविशेषत्व एव पर्य्यवसति। किञ्च "इदं पुच्छं प्रतिष्ठा" इत्यादिकमुक्त्वा तत्र तत्रोदाहृताः—"अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते" [तैः उः २। १] इत्यादयः श्लोकाः न पुच्छमात्रपराः, अपित्वन्नमयादिपराः; एवमयमप्यानन्दमयपरत्वनैव

श्लिष्यते। एवं "नेतरोऽनुपपत्तेः" [ब्रह्मः सूः १। १। १७] इत्यादिसूत्राण्यपि आनन्दमयस्य जीवत्व--निषेध-पराणीति । तस्य परब्रह्मत्वमेव तैः साध्यते इत्यलमतिविस्तरेण ।

यदि च सूत्रकारस्य वेदान्तार्थानभिज्ञतां निगूढमभिप्रयता तत्प्रमादमार्ज्जन-स्वचातुरी-व्यङ्ग-भङ्ग्या तदानन्दमयसूत्रमेवं व्याख्येयम्—

'आनन्दमय' इत्यत्र "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इति स्वप्रधानमेव ब्रह्मोपदिश्यत इति,—तथा विकार-सूत्रे च "विकार"-शब्देनावयवः—"प्राचुर्य्य"-शब्देन "सादृश्यं" वाख्येयम ,—तदा सूत्रकारस्याशाब्दिकतैव च प्रसज्जेत्—तत्तच्छब्दादिभिस्तत्तदर्थानभिधानात् । "मयट्"-प्रत्यय-विकार-प्राचुर्य्यशब्दानामनन्तरनिर्द्दिष्टानामन्यार्थत्वं न वा बालकस्यापि हृदयमारोहति । उक्तन्तु स्कान्दे वायव्ये च:—

"अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥" इति ।

किञ्च प्रथमसूत्रार्थे प्रियाशिरस्त्वाद्य प्राप्तिरिति च व्यर्थमेव स्यात्; पुरैवैषां लौकिकत्वेनैव निर्द्धारणात्; नतु विज्ञानादिवद्ब्रह्मत्वेन । तस्मादानन्दमयस्यैव परब्रह्मत्वे सति प्रियादयस्तद्विशेषा इत्यस्यैव स्वरूपप्रकाश-वैशिष्ट्यम् ।

ततश्च पूर्व्ववत् स्वगतैकदेशानङ्गीकृतेरेकदेशोदयविरोधादस्त्येव स्वांशवैशिष्ट्यम् ।

"एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" [तैः आः ३ । ३ । ३२] इति श्रुतिश्च तथैवाह । "निरवयव"-शब्दव्याकोपश्च,—प्राकृतावयवराहित्यादिना परिहृतः । इत्थमेव तस्य निरुपाधेरेव स्वत आनन्द-प्रकाशानन्त्यं व्यञ्जयन् "सन्दोह"-शब्दमाहैकादशे श्रीदत्तात्रेयः—

"केवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिकः" [श्रीभाः ११।-९। १८] इति। अतएवाप्राकृताबयवत्वेन तस्यानश्वरत्वञ्च युक्तम। तथा "जन्माद्यस्य" [ब्रह्म सू १।१।२] इत्यादेः "श्रुतत्वाच्च" [ब्रह्म सू १। १। १२] इत्यन्तस्य ग्रन्थस्य तात्पर्य्यं तथैवं व्याख्यातम्।

श्रीरामानुज-शारीरक-भाष्ये यथा "अतएव निर्व्विशेष-चिन्मात्रब्रह्मबादोऽपि सूत्रकारेणाभिः श्रुतिभिर्निरस्तो वेदितव्यः। पारमार्थिकमुख्येक्षणादिगुणयोगि जिज्ञास्यं ब्रह्मेति "गौणश्चे-न्नात्मशब्दात्" [ब्रह्म सू १। १। ६] इत्यादौ स्थापनात् निर्व्विशेष-वादे हि साक्षित्वमप्यपारमार्थिकम्; वेदान्तवेद्यं ब्रह्म च जिज्ञास्यतया प्रतिज्ञातम्; तच्च चेतनमिति "ईक्षतेर्नाशब्दम्" [ब्रह्म सू १।१।५] इत्यादिभिः सूत्रैः प्रतिपाद्यते। चेतनत्वं नाम—चैतन्यगुणयोगः। अत ईक्षण-गुण-विरहिणः—प्रधान-तुल्यत्वमेवेति" [श्रीभाष्यम्- १।१।१२]

तद्वादे दोषएव प्रत्याबर्त्तेत इति किं वहुना, "न स्थान-तोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्व्वत्र हि" [ब्रह्म सूः ३।२।११] इत्यधिकरणे सर्व्वेषामेव बाक्यानां सविशेषपरत्वमेव दर्शितमस्ति।

तथाहि तदर्थः—"सर्व्वकर्म्मा सर्व्वकामः सर्ब्बगन्धः सर्व्व-रसः"—[छान्दोग्य १४ खः ३ प्राः अः] इत्येबमादिकं परस्य ब्रह्मणः सविशेषत्व-चिह्नम्। "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम् [वृः आः ३।८।८] इत्येबमादिकं निर्व्विबशेषत्वचिह्नम्—तदेतदु-भयं चिह्नं परमस्य न सम्भवति,—बिरोधात्।

नापिस्थानमुपाधिमङ्गीकृत्य तत्सम्भावनीयम्,—उपाधि-योगेन सविशेषत्वं स्वतो निर्व्विशेषत्वमेवेति, हि यस्मात् सर्व्व-त्रैबोपाधिसम्बन्धे तदसम्बन्धे च तस्य सविशेषत्वमेबोपलभ्यते।

तत्रोपाधिसम्वन्धे तावदुभयथापि सविशेषत्वम् ; तेनोपाधिना तत्रैव स्वरूप-शक्ति-प्रकाशनेन च यदि तत्र स्वरूपशक्तिर्नस्यात्तदा जड़स्य तस्योपाधेः प्रवृत्त्यादिकमपि न स्यात्। न च स उपाधिरागन्तुकः।

"सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" [छान्दो ६। ६। २ अः] इत्यत्रेदंशब्देन तस्यापि सत्ता तादात्म्येनाग्रे स्थितेराम्नातत्वात्—नच तदुपाधिदोषेण तल्लिप्तम्। तस्मिन् सतापि तेन तदस्पर्शात्। "अपहत पाप्मा" [छान्द ८। १। ५] इत्यादिश्रुतेः तदनन्तरमेकविज्ञानेन सर्व्वविज्ञान-प्रतिज्ञा च सविशेषत्वमेव वोधयति।

एवं जगदुपादानत्वादिवाक्यं जगज्जीव-तादात्म्य-वाक्यञ्च अत्र निर्व्विशेषत्वे—"सदेव सौम्येदं" [छान्दो ६। ६। २। १] इत्युपक्रम-विरोधः। तदविरोधस्तु सादिदमोरिव तयोस्तादात्म्येनैव सामानाधिकरण्याद्भवति। तथाच सविषत्व एव सामानाधिकरण्यम् ; तथाग्रे परमात्मसन्दर्भाख्ये तृतीयसन्दर्भे वक्ष्यामः।

"सदेवेदं" इत्युपक्रमाविरोधादेव च निरुपाधिवत् प्रतीयमाने "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" [छान्दो ६। २। २] इत्यत्रापि नेदं-शब्दवाच्यस्याभावं वोधयति।

किं तर्हि इदं-शब्दवाच्यस्यापि तच्छक्तित्वमेव वोधयति। तत्रैकमित्यनेन जगदुपादानस्य ब्रह्मण एकत्वमेव, नतु परमाणुवद्बाहुल्यम्। "अद्वितीयं" इत्यनेन तस्य स्वशक्त्येकसहायत्वं—नतु कुलालादिवन्मृत्तिकादिलक्षणवस्त्वन्तरसहायमिति। गम्यते 'एव'कारोऽत्रासम्भावनानिवृत्त्यर्थः। तस्याव्यक्तस्य तच्छक्तित्वेऽप्युपाधित्व-प्रत्ययो वहिरङ्गत्वादेवेति ज्ञेयम्। तथोपाधिप्रतिषेधवाक्ये—"अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। यत्तादद्रश्यमग्राह्यम्" [मुः उः १। १। ६] इत्यादौ प्राकृतहेयगुणान् प्रतिषिध्य नित्यत्वविभुत्वादिकल्याणयोगो ब्रह्मणः प्रतिपाद्यते।

"नित्यं विभुं सर्व्वगतम्" [मु: उ: १ । १ । ६] इत्यादिना एवं "निर्गुणं निरञ्जनं" इत्यादीनामपि प्राकृतहेयगुणविषयनिषेधरूपमेव । सर्व्वतोनिषेधे स्वाभ्युपगताः सिसाधयिषिता नित्यतादयश्च निषिद्धाः स्युः ।

ज्ञान-मात्र-स्वरूप-वादिन्योऽपि ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपतामभिदधति । तथापि तत्स्वरूपत्व एव तस्य ज्ञातृत्वमस्तीति न निर्व्विशेषत्वं तत्रात्प्रतिपादितम । एवमानन्दब्रह्मेत्यत्रापि ज्ञेयम् ।

किञ्च तत्र तत्र "ब्रह्म"-शब्देनैव सविशेषत्वं स्पष्टीकृतम्,—वृंहणार्थत्वात् । अतएव "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्", [तैः उः २ । ३ । १] इत्यादौ भेदनिर्द्देशश्च ।

"यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इत्यादिकवाक्यं चालौकिकत्वादानन्त्याच्च सङ्गच्छते । अतएव "ब्रह्म ते ब्रुवाणि" "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति न विरुध्यते ।

"यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्व्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्" इत्यादौ "नेह नानास्ति किञ्चन" "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" इत्यादौ च जीवमाययोस्तच्छक्तितया कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मकार्य्यतया सर्व्वेषां तदन्तर्य्यामिकतया च तदात्मकत्वेनैक्यात्—तत्प्रत्यानीकनानात्वं प्रतिषिध्यते । न तत् सर्व्वथा अस्य सर्व्वमिति स्वरूपभेदाङ्गीकारात् । 'वहु स्यां प्रजायेय'] तेः २ । ६ । १] इति निर्व्विकारस्यैव सतोऽचिन्त्यशक्त्या कार्य्यभावभेदाङ्गीकाराच्च । प्रत्यक्षादिसकलप्रमाणानवगतं ब्रह्मणो नानात्वं प्रतिपाद्य तदेव प्रतिषेधवाक्येन बाध्यत इत्युपहास्यमिदम्" । [श्री-भाष्यजिज्ञासाधिकरणे]

नेहेत्यादौ—इह ब्रह्मणि यत्किञ्चनास्ति तन्नाना नास्ति किन्तु स्वरूपात्मकमेवेत्यर्थः; नानाशब्दवैयर्थ्यात् ।

"यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा।" अथ यत्रान्यत् पश्यति' अन्यच्छृणोति अन्यद्विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतं" [छान्द: ७। २४। १] "अथ यदल्पं तन्मर्त्त्यम्" इत्यादौ चायमर्थः। नान्यत् पश्यतीति तन्मात्रदर्शनादवगम्यते रूपवत्त्वं तथा' नान्यच्छृणोतीति शब्दवत्त्वञ्च तस्य दर्शितम। एतदप्युपलक्षणम—स्पर्शादिमत्वञ्च ज्ञेयम। "सर्व्वगन्धः सर्व्वरसः।" [छान्द: ३। १४। ४] इत्यादि श्रुतेः। एवं बहिरिन्द्रियेषु स्फूर्त्तिर्दर्शिता। नान्यद्विजानातीति तथैवान्तःकरणेषु स्फुरतीत्याह तत्रान्यदर्शनादि-निषेधस्तस्यानन्तविवक्षया कृत्स्नस्य जगतोऽपि तद्विभूत्यन्तर्गतत्वविवक्षया च शुद्धे चित्ते जगतोऽपि तद्विभूतिरूपत्वेन यथार्थीयां स्फूर्त्तौ न दुःखदत्वम्। तदुक्तम्:—

"मया सन्तुष्टमनसः सर्व्वाः सुखमया दिशः" इति तथैव वाक्यशेषः।

"स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड्भवति सर्व्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। [छान्द: उ: ७। २५। २] इति तस्मादत्रापि सविशेषमेव प्रतिपद्यते एवमन्यत्रापि उन्नेयम। तस्मात् साध्वेव व्याख्यातं "स्थानतोऽपीति" न च सविशेषं ब्रह्म निर्विशेषो भिन्नमिति वक्तव्यं प्रतिशाखमेव ब्रह्म सर्व्वत्र गीयत इति।

"सर्व्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" [कठ: उ: २। १५] इति श्रुतेः। तदेतदप्याह "न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्" [ब्रह्मसू: ३। २। १२] अतएव "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इत्येके पठन्ति। तदेतदप्याह "अपि चैवमेक" [ब्रह्मसू:, ३। २।–१२] इति।

न च "श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम् ।
प्रमाणेष्वनवस्थानाद्विकल्पात् स विरज्यते ॥"
[श्रीभाग: ११ स्कन्ध १९ । १७]

इत्यत्र श्रीभागवत एव भेदमात्रं श्रुत्यसम्मतमित्युच्यत इति वाच्यम् ; विकल्पशब्दस्य संशयार्थत्वात् तत्र विरागश्च वस्तु-निष्ठापेक्षयेति मूल एव वक्ष्यते ।

तदेवं स्वगतभेदे त्वपरिहार्य्ये स्वर्णरत्नादिघटितैककुण्डल-वद् वस्त्वन्तरप्रवेशेनैव स प्रतिषेध्यत इति स्थितम् ।

तत्स्वरूपवस्त्वन्तराणां च तच्छक्तिरूपत्वान्न तैः सजातीयो-ऽपि भेदः ।

न चाव्यक्तगतजाड्यदुःखादिभिर्व्विजातीयो भेदः"—अव्य-क्तस्यापि तच्छक्तिरूपत्वात् । अथवा नैयायिकानां "ज्योतिरभाव एव यथा तमः" तथाङ्गीकृत्य तादृशचिन्तानुभाव--मायाकृत चिदानन्द-शक्ति-तिरोभाव लक्षणाभावमात्र-शरीरत्वेन निर्णीत-व्यत्वादिति; नचाभावेनैव । तर्हि विजातीयो ऽसौ भेद आप-तित इति वक्तव्यम् । केवलाद्वैतवादिनामपि तदपरिहार्य्यत्वात् ।

एवञ्च निषेध-श्रुतिभिर्युक्तिभिश्च ब्रह्मणि योऽद्वैताभावः साध्यते स चावृत्त्याप्यपरिहार्य्य इति । पुनस्तदापातभिया भावे-नेवाद्वैतं मन्यामहे इति वदतां भावद्वैतमप्यवसीयते । तेना-भावेन भावरूपब्रह्मणो यद्द्वैतमस्ति, तस्य भावरूपस्यैव साक्षाद-वशिष्टत्वात् मिथ्याप्रपञ्चस्याभावोऽपि मिथ्येत्यत्रापि तद्वत् तत्रापि मिथ्यैवावशिष्यते । अभावस्तु न वस्त्वतिरिक्त इति पक्षोऽपि न सम्यगवगम्यते ।

यदा च भूतले एव घटाभावः स्यात् तदा तत्र पुनर्घटस्य संसर्गो न स्यादेव । तदेवं पूर्व्वयुक्तिभिरित्थं चापरिहार्य्यायां भेदवृत्तौ स्वगतभेदवृत्तिस्तस्मिन्नस्त्येव । ननु निर्भेदेऽपि तस्मि-

न्नित्यं स्वगतभेदप्रतीतिरपि मिथ्यैवास्तु शुक्तिरजतवदनिर्व्वचनीयत्वात। मैवं - प्राक्तनयुक्तिभिर्व्विज्ञानादिभेदानां स्वरूपादपरिहरणीयत्वात् । अविद्या-तत्कार्य्यापोहावशिष्ट-तादृशस्वरूपेऽप्यनिर्व्वचनीयत्वे सर्व्वत्र नाशापत्तेः। नच यत्र निर्व्वक्तुमशक्यत्वं तत्र तत्र मिथ्यात्वमिति व्याप्तिरस्ति, ब्रह्मण्यव्याप्तेः। "अनिरुक्तेऽनिलये" [तैः उः २ । ७ । १] इत्यादि श्रुतेः। लोकेऽपि मिथोविरोधिगुणधारित्वेनैव युक्तयसिद्धत्वादनिर्व्वचनीयत्रिदोषघ्नैकव्यक्तौषधिद्रव्यादिदर्शनेन—व्यभिचारः।

अतएव अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रमहौषधीनां प्रभाव इति।

"अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्" इत्युक्तम्। तस्मात्तद्वदचिन्त्यस्य भावतया मिथोविरोधिधर्म्मवदेव तत्त्वमित्युच्यताम।

तत्र तस्य तादृशत्वाज्ञाने वैद्यकविध्येकानुगततन्निषेधकानुभवः प्रमाणम्। प्रस्तुतस्यापि वेदैकानुगतविद्वदनुभव एव प्रमाणम्। तथाच पैङ्गीश्रुतिः,—

"यो विरुद्धोऽविरुद्धोमनुरमनुर्वागवागिन्द्रोऽनिन्द्रः प्रवृत्तिरप्रवृत्तिः स परमात्मा" इति।

अतएव श्रुत्यन्तरम् ,—नैषा तर्केण मतिरापनेया" इति [कठ २ । ६] । एवं श्रीविष्णुपुराणे,—

"यस्मिन् ब्रह्मणि सर्व्वशक्ति-निलये मानानि नो मानिनाम्।
निष्ठायै प्रभवन्ति" [विः पुः ६ । ८ । ५] इति। श्रीनारदपञ्चरात्रे च—

"विष्णुतत्त्वं परिज्ञाय एकञ्चानैकभेदगम्।
दीक्षयेन्मेदिनीं सर्व्वां किं पुनश्चोपसन्नतान्" इति॥

तदेवमतर्क्यत्वात्तर्कमूला खण्डनविद्या नास्मिन् पयोक्तव्येत्यभिहितम्। अतत्रवोक्तम् हंसगुह्यस्तवके—

"यच्छक्तयोवदतां वादिनां वै विवादसम्वादभुवो भवन्ति ।
कुर्व्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने" इति ।
[श्रीभाग ६ । ४ । २ । ६]

युक्तञ्च परस्परविरोधिशक्तिगणाश्रयत्वम्,—जगति दृष्टश्रुतानां परस्परविरोधिनां सर्व्वेषामेव धर्म्मणां युगपदेकाश्रयत्वात् । विद्वदनुभवश्चाग्रे बहुशो दर्शनीयः ।

अतस्तस्मिन् तादृशशक्तयः सन्त्येव । किन्तु तस्मिंस्तासामभिव्यक्त्युपलब्धौ प्राचुर्य्येण "भगवत्"-संज्ञा । तदनुपलब्धौ प्राचुर्य्येण "ब्रह्म"संज्ञेति विशेषः । अतएव श्रीविष्णुपुराणे—

"प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् ।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्" ॥
[विः पुः ६ । ७ । ५३]

इत्यत्र प्रत्यस्तमितेत्येवोक्तम्—'अस्त' शब्दस्यादर्शनमात्रार्थत्वात् । तस्माद्द्वैताद्वैतादिश्रुतीनां तस्मिंस्तत्तत्प्राधान्येन प्रवृत्तिरिति ।

तथा स च शक्तिरूपो धर्म्मोधर्म्मातिरिक्ते तस्मिन वर्त्तत इत्यनेन किं निर्द्धर्म्मे धर्म्मो वर्त्तते ? किंवा सधर्म्मे वर्त्तते ?—इति विकल्पकल्पनाप्रकारा अपि निरसनीयाः ।

तथा भवन्मतेऽपि किं साविद्ये ब्रह्मण्यविद्यानिरविद्ये वेत्यादिकं प्रष्टव्यं चेति कृतमतिविस्तरेण ।

तदेवं घट्टपालेष्विव निरस्तेषु निर्द्धर्म्मवादेषु धर्म्मवादानां श्रीवैष्णवानां श्रीश्रीपुरुषोत्तमपादपीठपरिसरं प्रति राजपथेनैव गतिः । तथाहि श्रीविष्णुपुराणे मैत्रेय उवाच,—

"निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः ।
कथं सर्गादि-कर्त्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते [विः पुः १ । ३ । १ ।] इत्यनन्तरम् श्रीपरशर उवाच—

"शक्तयः सर्व्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः ।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः ।
भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता" इति ।

व्याख्यानञ्च श्रीधरस्वामिभिः—

"लोके हि सर्व्वेषां भावानां मणिमन्त्रादीनां शक्तयः अचिन्त्यं तर्कासहं कार्य्यान्यथानुपपत्तिप्रमाणकं यज्ज्ञानं तस्य गोचराः सन्ति । यद्वा अचिन्त्याः—भिन्नाभिन्नत्वादिविकल्पैश्चिन्तयितुमशक्याः—केवलमर्थापत्तिज्ञानगोचराः सन्ति । यत एवम्, अतो ब्रह्मणोऽपि तास्तथाविधाः सर्गाद्याः सर्गादिहेतुभूताः स्वभावसिद्धाः शक्तयः सन्त्येव,—पावकस्य दाहकत्वादिशक्तिवत् । अतो गुणादिहीनस्याप्यचिन्त्यशक्तिमत्त्वाद्ब्रह्मणः सर्गादिकर्त्तृत्वं घटत इत्यर्थः ।"

श्रुतिश्च,—"न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते" [श्वेताश्व ६ । ८] इत्यादिः । "मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनञ्च महेश्वरम्" [श्वेताश्व ४ । १०] इत्यादिश्च । यद्वैवं योजना,—सर्व्वेषां भावानां पावकस्योष्णताशक्तिवदचिन्त्यज्ञानगोचराः शक्तयः सन्त्येव । ब्रह्मणः पुनस्ताः स्वरूपादभिन्नाः शक्तयः "परास्य शक्तिर्व्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" [श्वेताश्व ६ । ८] इत्यादिश्रुतेः । अतो मणिमन्त्रादिभिरग्नौष्ण्यवन्न केनचिद्विहन्तुं शक्यन्ते । अतएव निरङ्कुशमैश्वर्य्यम्—

"सवा अयमस्य सर्व्वस्य वशी सर्व्वस्येशानः सर्व्वस्याधिपतिः" [बृः आः ४ । ४ । २२ ।] इत्यादिश्रुतेः । "तपतां श्रेष्ठ"इति सम्बोधयन् या काचिदपि तपः-शक्तिः सा तस्यैवेति सूचयति । यत एवम्, अतो ब्रह्मणो हेतोः सर्गाद्याः भवन्ति नात्र काचिदनुपपत्तिरित्यर्थ इति ।

अत्र "मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्"इत्यत्र मायाया अपि स्वभा-

बत्वमुक्तम्, प्रकृतेस्तत्पर्य्यायत्वात्। अतएव मायिनमिति नित्य-योग एव मत्वर्थीयः। महेश्वरे मायास्तीति महेश्वरत्वन्तु तस्य मायातः परमिति वक्तव्यम्। उत्तरस्यां योजनायां मायायां स्वरूपादभिन्नत्वं बहिरङ्गत्वेऽपि तदेकाश्रयत्वात्।

ततः सुतरामेव सा महेश्वरत्वव्यञ्जिकान्या शक्तिः स्वरूपभूतेति। तथा प्रथमायां योजनायां "सर्गाद्या" इत्यत्राद्य-ग्रहणेन स्थितिप्रलयमय्यो जगत्कार्य्याः शक्तयो गृह्यन्ते। स्वरूपैश्वर्य्यादि-प्रकाशवृत्त्याकशक्तयोऽपि शक्तित्वेनैक्येऽपि बहुत्वानिर्देशस्तत्राद्वृत्तिभेद-विवक्षया।

अत्र श्रीरामानुजशारीरकेऽपीत्थं लिखितम्—"यदि निर्व्विशेष-ज्ञानरूप-ब्रह्माधिष्ठान-भ्रम-प्रतिपादन-परं शास्त्रम्; तर्हि—"निर्गुणस्य" इत्यादि चोद्यं "शक्तय"इत्यादि परिहारश्च न घटते।

तथाहि सति—निर्गुणस्य ब्रह्मणः कथं सर्गादिकर्त्तृत्वम्? न ब्रह्मणः पारमार्थिकः सर्गः; अपितु भ्रमकल्पितः इति चोद्यपरिहारौ स्यातामू।

उत्पत्त्यादिकार्य्यं सत्त्वादिगुणयुक्तापरिपूर्णकर्म्मवश्येषु दृष्टमिति तत्तद्भावरहितस्य कथं सम्भवतीति चोद्यम्। दृष्टसकलविसजातीयस्य ब्रह्मणो यथोदितस्वभावस्यैव जलादिविसजातीयस्याग्न्यादेरौष्ण्यादिशक्तियोगवत् सर्व्वशक्तियोगो न विरुध्यत इति परिहारः" इति श्रीभाष्यम् [वि कों मः प्रः खः ५५-६६]। श्रीभगवदुपनिषत्सु च स्वभावशक्तिमत्त्वेनैवोपदिष्टम्—

"ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥
सर्व्वतः पाणिपादन्तत् सर्व्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्व्वतः श्रुतिमल्लोके सर्व्वमावृत्य तिष्ठति॥

सर्व्वेन्द्रियगुणाभासं सर्व्वेन्द्रियविवर्ज्जितम् ।
असक्तं सर्व्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥
वहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थञ्चान्तिके च तत् ॥
अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्त्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्व्वस्य विष्ठितम्" इति ॥
[गीता १३ । १३-१८]

एवं ब्रह्मसूत्रे च – "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इति
[ब्रह्म सू २ । १ । २७] ।

अतः शक्तेः स्वाभाविकाचिन्त्यत्वे सति तस्य शक्तित्वमपत्य-ज्ञानकल्पितमिति नाङ्गीकुर्व्वन्ति । यत्रासम्भवसम्भावयित्री दुस्तर्का स्वाभाविकी शक्तिर्नास्ति तत्रैव तदङ्गीकारोपपत्तेः, गौरवापत्तेश्च । अत्र चेदं विचार्य्यते—द्वैतमात्रान्यथानुपपत्त्या केवले ब्रह्मणि मणिमन्त्रमहौषधादिवत् तर्कागोचराः शक्तयः सन्तीत्येके, तदन्यथानुपपत्त्या तथाभूत एव तस्मिन्नज्ञानेनैव तदुपपद्यत इत्यन्ये ।

तत्र ब्रह्मणि ज्ञानमात्रे त्वज्ञानं न सम्भवतीति । अज्ञानञ्च साश्रयमेव, नतु स्वतन्त्रमिति । जीवत्वं च अज्ञानकृतमेवेति—शुक्ति-रजतादि-दृष्टान्तमूलं ;—तदुपेक्षणीयम् । अत्र जीवः स्वाज्ञानेनैव जीवत्वं कल्पयतीति स्वाश्रयः परस्पराश्रयश्च प्रसज्ज्येत । यो जीवो येनाज्ञानेन यज्जीवत्वं कल्पयति स तयोरज्ञान-तत्-कार्य्ययोरतिरिक्त एव भवेदिति ।

तस्य शुद्धत्वे तदेव ज्ञानमात्रत्वमागतम् ; ततश्च कथं नाम तस्याज्ञानं स्यात् येन स्वजीवत्वं कल्पयेदित्यसम्भवश्च कल्पेत ।

अत्र प्रयोगश्च दर्शितः ;—"विवादाध्यासितमज्ञानं न ज्ञान-मात्रब्रह्माश्रयत्वम् अज्ञानत्वात्। शुक्तिकाद्यज्ञानवत् ज्ञात्राश्रयं हि तत्" इति श्रीभाष्यम् । ब्रह्म नाज्ञानश्रयं,—ज्ञातृत्व-बिरहात् घटबदिति च । ततश्च पारिशेष्य-प्रमाणेन तर्कागोचराः शक्तयः एव ब्रह्मणि पर्य्यबस्यन्तीत्येव साधुसम्मतम् ।

सम्भवति चालौकिकवस्तुत्वात्तस्य तादृशशक्तित्वम् ।

प्रसिद्धञ्च श्रुतिपुराणादौ तत् ,—ततोऽतर्क्यशक्तिबिलासे द्वैतखण्डन-विद्यापि नात्राबतार्य्येत्युक्तमिति ।

तदेवं सिद्धायां भावशक्तौ सा च त्रिविधा—अन्तरङ्गा, तटस्था, बहिरङ्गा चेति मूल एव दर्शयिष्यते । अत्रोत्तरयोरनन्तरङ्गत्वं ताभ्यां परमेश्वरस्यालिप्ततया शक्तित्वञ्च ; नित्यतदाश्रिततया तद्व्यतिरेकेण स्वतोऽसिद्धतया तत्कार्य्योपयोगितया च । तत्र तटस्थाख्या शक्तिः परमात्मसन्दर्भाख्ये तृतीये तृतीये सन्दर्भे एव दर्शयिष्यते ।

अन्ये तु बिब्रियेते,—ये परापराशब्दाभ्यां भण्येते—यथा श्रीविष्णुपुराणे एव—

"सर्व्वभूतेषु सर्व्वात्मन् ! या शक्तिरपरा तव ।
गुणाश्रया नमस्तस्यै शाश्वतायै सुरेश्वर ॥
यातीतागोचरा बाचां मनसां चाविशेषणा ।
ज्ञानिज्ञानपरिच्छेद्या बन्दे तामीश्वरीं पराम्" इति ॥
[बिः पुः १ । १९ । ७५–७६ ।]

अनयोरर्थः—हे सुरेश्वर ! सुरादिपालन-शक्ति-प्रकाशक ! हे सर्व्वात्मन् ! सर्व्वादिकारणत्वेन तज्जननादि-शक्तिनिधान ! तवापरा परस्वरूपायाश्चिच्छक्तेरितरा वहिरङ्गा जीवमाया मायेत्याद्याख्या या शक्तिः सर्व्वभूतेषु सर्व्वेषु जीवेषु अधिकृत्य बर्त्तते

तस्यै नमः। तस्याः सकाशादात्मानं विदायं कर्त्तुमितिभावः। कथम्भूता? गुणाश्रया गुणाः स्वयं गुणसाम्यरूपायाः जड़ायाः प्रकृतेर्वृत्तिविशेषाः सत्त्वादयस्त एवाश्रयो यस्याः सा। मायाशक्तिस्तूर्णनाभिरिव हि गुणसाम्यावस्थात् स्वैकदेशस्थकोष-विशेषात् गुणजालं प्रकाश्य तदाश्रित्य च तच्चाकुञ्चिक्यमुग्धवद्धान् कीटानिव जीवानधिकरोति। शाश्वताया इति स्वाभाविकत्वं वक्तव्यम्। अस्याः प्राक्कथनमेतद्द्वारैव प्रथमतः सानुमेयेत्यभिप्रायेण। अथ वाचां मनसां चातीतोऽतिक्रान्तो गोचरो विषयो यया सा यस्मादविशेषणा दृष्टजातिगुणादिभिर्विशेषयितुमशक्या एवम्भूता या शक्तिस्तामीश्वरीं ईश्वरस्य तवान्तरङ्गत्वादङ्गीभूतां चिच्छक्तिरात्ममायेति नाम्नीम्, परामपरस्या वहिरङ्गाया आश्रयभूतां वन्दे स्तौमि। तामनुसर्त्तुमिति भावः।

नन्वेवम्भूता कथमस्तीति ज्ञायते, तत्राह—ज्ञानिज्ञानपरिच्छेद्येति, ज्ञानिनामशुद्धजीवानां जातिशब्दादिविषयाणि प्रादेशिकानि ज्ञानानि तैः परिच्छेद्या, सर्व्वतः प्रसरद्भिर्निर्झरोदकैर्महासरोवत् सर्व्वगतत्वेनावगम्या, वस्तुतस्तस्या एव सर्व्वप्रवर्त्तकत्वादिदमुक्तम्—

"प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो मनः"—[केन उ। २] इति श्रुतेः।

यद्वा ज्ञानी जीवः ज्ञानञ्च तदुभयमपि परिच्छेद्यं बाह्यं घटादिवत् प्रकाश्यं यस्याः सा। "तमेव भान्तमनुभाति सर्व्वम्" [श्वेताश्व ६। १४। कठ १५। ५। मुण्ड २। २। १०] इत्यादि श्रुतेः। किम्वा ज्ञानिनः आब्रह्मस्तम्बपर्य्यन्ता ये जीवास्तेषां यज्ज्ञानं ज्ञानोपलक्षिता सर्व्वापि वाह्याभ्यान्तरचेष्टा सा परिच्छेद्या प्रवर्त्तनीया यया सा।

"को ह्येवान्यत् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" [तै उः २ । ७ । १] इति श्रुतेः ।

अथवा ज्ञानी शुद्धो जीवः, तस्य यत् निजं ज्ञानं प्रमात्रादीनां साक्षिभास्यतामात्र-प्रतीत्या च मायाविमोहितत्वलिङ्गावगता-च्छन्नस्वज्ञानत्वेन च कैवल्ये तदभावे स्वरूपसुखास्फूर्त्तिदोषप्रसङ्गेन च "नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" [वृः आः ४ । ३ । २३] इत्यादिश्रुत्या च स्वरूपभूतं लक्ष्यते । तेन ज्ञानेन परिच्छेद्या यस्मात्तथाभूतज्ञानोपलक्षिता स्वरूप-शक्तिः शुद्धजीवब्रह्मणि दृश्यते । तस्मात् परस्मिन् ब्रह्मणि तु सानन्तात्मिकैव वर्त्तत इति सम्भवनीयेत्यर्थः ।

यथा "गभस्तिलेशे दृष्टा शक्तिर्गभस्तिमालिनी" । "य आत्मानमन्तरो यमयति" इति श्रुतेरिति वा ।

ज्ञानी सृष्ट्यादिविद्यानिधिः परमेश्वरः तस्य यन्निजं ज्ञानं तेन परिच्छेद्या गम्या । सृष्टिस्थितिसंहारादिदर्शनात्तस्मिन् या शक्ति-र्लक्ष्यते, यैव च मायेति गीयते—सा तस्य मन्त्रादिविदामिव विद्याविशेष एव तत्सादृश्यात् स्वाभाविकत्वं त्वत्र विशेषः । तत-स्तस्या विद्याविशेषत्वे विद्यायाश्च पुरुषस्य निजज्ञान-धार्य्यत्वे, तन्निजज्ञानस्य तावन्मात्रधारकतायामेवा समाप्तत्वे च वशीकृत-मायस्य परमेश्वरस्य यत् निजं ज्ञानं तन्मायामायिकं वा न भवति तस्मात्तेनैव स्वरूपभूतज्ञानेन तदात्मिका शक्तिर्लक्ष्यते—

"मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्" इति श्रुतेः । इदं वा एकस्मिन्नेव स्वरूपे ज्ञानीति ज्ञानमिति च परिच्छेद्यं यया सा । "पूर्व्ववद्वा" [ब्रह्म सूः २ । ३ । २६] इति न्यायात् ।

"स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित" ? इति "स्वे महिम्नि" [छाः, उः, ७ । २४ । १] इति श्रुतेः । इत्थं वा, ज्ञानी विद्वान् तस्य ज्ञानेन अनुभवेन परिच्छेद्यावगम्या । वैकुण्ठादिषु श्रीभगवतस्तत्सान्नि-

जवैभवानां शुद्धानन्दविलासमात्रतां प्रति प्रमाणेन विद्वदनुभवेनैव प्रमेयेत्यर्थः।

"ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्, देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम" [श्वेताश्व १।३] इति श्रुतेः। तदेवमन्तरङ्गापरपर्य्याया स्वरूपशक्तिर्दर्शिता।

श्रुत्यन्तरञ्चात्र—

"स्वरूपभूतया नित्यशक्त्या मायाख्यया युतः।
अतो मायामयं विष्णुं प्रवदन्ति सनातनम्" ॥

इति चतुर्व्वेदशिखायां मायाशब्दस्य द्विधावृत्तिरित्युक्तम्। तस्या एकस्या एव स्वरूपशक्तेर्वृत्तिभेदेन भेदा अपि स्वीकृताः। "परास्य शक्तिर्व्विविधैव श्रूयते" [श्वेताश्व ६।८] इति श्रुतेः। तथाच श्रीमध्वभाष्यप्रमाणिताः श्रुतयः—

"सर्व्वैर्युक्ता शक्तिभिर्देवता सा
परेति यां प्राहुरजस्रशक्तिम्।
नित्यानन्दा नित्यरूपाजरा च
या शाश्वतात्मेति च तां वदन्ति" ॥

इति चतुर्व्वेदशिखायाम्।

"अश्रुतं श्रोतृ अदृष्टं द्रष्टृ" इत्यादिरन्यत्र। अतएव ब्रह्मसायुज्यप्रतिपादिका माध्यन्दिनश्रुतिरपि तस्य सर्व्वशक्तिमत्त्वं स्वरूपसिद्धमेवेत्यङ्गीकरोति—"स वा एष ब्रह्मनिष्ठ इदं शरीरं मर्त्त्यमतिसृत्य ब्रह्माभिसम्पद्य ब्रह्मणा पश्यति, ब्रह्मणा शृणोति, ब्रह्मणेवेदं सर्व्वमनुभवति" इति।

एकविज्ञानेन सर्व्वविज्ञानप्रतिज्ञा च तथैव कल्प्यते।

"येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" [छाः उः ६।१।३] इति वाक्यान्तरञ्च।

सर्व्वस्य तादृशतन्निजशक्तिवृन्दानुगतत्वात् निर्व्विशेषवस्तु-

ज्ञाने सर्व्वज्ञानासम्भवाच्च।

अतएव "स ब्रह्मविद्यां सर्व्वविद्याप्रतिष्ठामथर्व्वाय ज्येष्ठ-पुत्राय प्राह" [मुण्ड १ । १ । १] इत्युक्तम्।

"यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्व्वं तदस्मिन् समाहितम्" इति चान्यत्र। यथा "सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्व्वं मृण्मयं विज्ञानम्" [छा: उ: ६ । १ । ४] इति दृष्टान्तेऽपि एकस्मिन् मृत्पिण्डे घट-शरावादिविकारानाविर्भाव्यदर्शनया तत्तद्विज्ञानमिति—सम्भ-वात् सत्कार्य्यवादाङ्गीकाराच्च। मृद्विकारस्य रज्जु सर्पादिवदसत्यत्वं शुश्रूषोरसिद्धमिति विवर्त्तवादश्च न तच्छ्रुतिस्वारस्य-सिद्धः।

तस्मात् साधूक्तम् श्रीपराशरेण,—"सर्व्वशक्ति-निलय" [वि: पु: ६ । ८ । ७] इति। तदेवमेकस्यैव वस्तुनोऽचिन्त्यज्ञानगोचर-तया श्रुत्यैकानिर्द्धारिततया च नानाशक्तित्वे सति तदात्मिका एव भग-संज्ञिता ऐश्वर्य्यादयः यद्भवेयुः येनाद्वयमेव तत्त्वं भग-वानपि शब्द्यते—इति तेषां परब्रह्मधर्म्माणां परब्रह्मणः प्रत्यग्रू-पत्वात् स्वप्रकाशत्वमेव,—न तु जड़त्वम्। नहि ज्योतिर्धर्म्मस्य शौक्ल्यादिकस्य तमोरूपत्वम्। तच्च स्वप्रकाशत्वमिन्द्रियकरणक-ग्रहणाभावे सति स्वरूपेण तानि प्रकाश्य तेषु प्रकाशमानत्वं नाम। क्वचिदनिन्द्रियेष्वप्यचेतनेष्वपि तस्य प्रकाशः श्रूयते—यथा वंशीवाद्यस्य "वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुम्" [श्रीभा: १०।-३५ । ९] इत्यादौ "तर्हि भग्नगतयः सरितो वा" [श्रीभा: १० ।-३५ । ७] इत्यादौ च। तत्र भगानां स्वप्रकाशत्वं भगविशिष्ट-स्यैव भगवतः परविद्यामात्राभिव्यङ्ग्यतया श्रीविष्णुपुराणे स्प-ष्टम्। प्रायः श्रीधरस्वामिनां क्रमेण तद्व्याख्याने च यथा—

"निरस्तातिशयाह्लाद-सुखभावैकलक्षणा।
भेषजं भगवत्प्राप्तिरेकान्तात्यन्तिकी मता॥

[वि: पु: ६ । ५ । ५९]

"निरस्तोऽतिशयाह्लादो निर्वृतिर्यस्मिन् सुखे तद्भावः तदात्मत्वमेवैकलक्षणं यस्याः सा तथा। किञ्च एकान्ता भगवन्निष्ठामात्रेणावश्यम्भाविनी न तु ऋत्विगादिवैगुण्येन कर्म्मफलादिवदनित्या।" आत्यन्तिकी च नित्या।

"तस्मात् तत्प्राप्तये यत्नः कर्त्तव्यः पण्डितैर्नरैः।
तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानञ्च कर्म्म चोक्तं महामुने॥"
[वि: पु: ६। ५। ६०]

"यत्नस्य साधनविषयत्वात् साधनमाह—तत्प्राप्तीति कर्म्मसत्त्वशुद्धिद्वारा ज्ञानं साक्षात्। तच्च ज्ञानं द्विविधमाह—

"आगमोत्थं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तथोच्यते"।
[वि: पु: ६। ५ ६१]

तद्विवृणोति—"शब्दब्रह्मागममयं परब्रह्म विवेकजम्"

"आगममयमागमोत्थं ज्ञानं, शब्दात् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिवाक्यात् जायमानं ब्रह्म श्रवणजं ज्ञानमागमोत्थमित्यर्थः। देहादिविविक्तात्माकारचित्तवृत्तौ निदिध्यासनायां प्रकाशमानं ब्रह्म विवेकजं ज्ञानमित्यर्थः। वृत्तिव्यङ्ग्यस्य ब्रह्मण एव ज्ञानाभिधेयत्वात् ब्रह्मैव ज्ञानमित्युक्तम्।"

"ननु शब्दश्रवणादपि ब्रह्मज्ञानमेवोत्पद्यते। तेनैवज्ञाननिर्व्वर्त्त्यभगवत्प्राप्तिसिद्धेः किं विवेकजज्ञानेनेत्याशङ्क्याह"—

"अन्धं तम इवाज्ञानं दीपवच्चेन्द्रियोद्भवम्।
यथा सूर्य्यस्तथा ज्ञानं यद्विप्रर्षे! विवेकजम्॥"
[वि: पु: ६। ५। ६२]

"निविड़ं तम इवाज्ञानं व्यापकमावरणम् इन्द्रियैः शब्दादिद्वारा ज्ञातं ज्ञानं दीपवत् असम्भावनाद्यभिभूतं न सर्व्वात्मनाज्ञाननिवर्त्तकं, विवेकजन्तु ज्ञानं सूर्य्यवत् सर्व्वाज्ञाननिवर्त्तकमित्यर्थः।"

उक्तलक्षणज्ञानद्वैधे मनुसम्मतिमाह—

"मनुरप्याह वेदार्थं स्मृत्वा च मुनिसत्तम !
यदेतच्छ्रूयतामत्र सम्बन्धे गदतो मम ॥"
[वि: पु: ६ । ५ । ६६]

"अत्र सम्वन्धेऽस्मिन् प्रसङ्गे"—

"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परञ्च यत् ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥"
[वि: पु: ६ । ५ । ६४]

"शब्दब्रह्मणि श्रवणेन निष्णातो बिवेकजज्ञानेन परं ब्रह्म प्राप्नोति तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानञ्च कर्म्म चोक्तमित्यत्र श्रुतिसम्मतिमाह"-

"द्वे विद्ये वेदितव्ये वै इति चाथर्व्वणी श्रुतिः ।
परया त्वक्षरप्राप्तिर्ऋग्वेदादिमयापरा" [वि: पु: ६ । ५ । ६५]

"विद्याशब्देन तद्धेतुकर्म्मब्रह्मविषयौ वेदभागौ गृह्येते, तदाह परयेति । ब्रह्मभागोऽक्षरप्रतिपादकपराख्यवेदभागादिना कर्म्म-भागऋग्वेदादिशब्देनोच्यते । "ब्राह्मणपरिव्राजकादिवत्" सा त्वपरा साधनगोचरत्वात् । "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते [मु: १ । १ । ५] यत्तदद्रश्यमग्राह्यम्" [मु: १ । १ । ६] इत्याद्यथर्व्वश्रुत्युक्तम् परबिषयमक्षराख्यं परं तत्त्वमाह त्रिभिः"—

"यत्तादव्यक्तमजरमचिन्त्यमजमव्ययम् ।
अनिर्द्देश्यमरूपञ्च पाणिपादाद्यसंयुतम् ॥
[वि: पु: ६ । ५ । ६५]

विभु सर्व्वगतं नित्यं भूतयोनिमकारणम् ।
वाप्याव्याप्यं यतः सर्व्वं तद् वै पश्यन्ति सूरयः ॥
[वि: पु: ६ । ५ । ६७]

तद्ब्रह्मपरमं धाम तद्ध्येयं मोक्षकाङ्क्षिणाम् ।
श्रुतिबाक्यो-दितं सूक्ष्मं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥"
[वि: पु: ६ । ५ । ६८]

"विभुं प्रभुं, सर्व्वगतम् अपरिच्छिन्नं व्यापि सर्व्वकार्य्यानुगतं, स्वयं त्वन्येनाव्याप्यं यतः सर्व्वं भवति तत् परं ब्रह्मैव स्वेच्छयाविष्कृतषाड़्गुण्यं परमेश्वराख्यं भगवच्छब्दवाच्यं द्वादशाक्षरादिपरविद्योपासनया भक्तैः सुलभदर्शनमित्याह"—

"तदेतद्भगवद्वाच्यं स्वरूपं परमात्मनः।
वाचको भगवच्छब्दस्तस्याद्यस्याक्षरात्मनः॥"

[वि: पु: ३ । ५ । ६६]

"ईदृग्विषयञ्च ज्ञानं परविद्येत्याह"—

"एवं निगदितार्थस्य सतत्त्वं तस्य तत्त्वतः।
ज्ञायते येन तज्ज्ञानं परमं यत्त्रयीमयम्॥"

[वि: पु: ६ । ५ । ७०]

"निगदितार्थस्य द्वादशाक्षरादिभिरुक्तार्थस्य ईश्वरस्य सतत्त्वं स्वरूपं तत्त्वतः अप्रच्युतब्रह्मस्वरूपेण येन द्वादशाक्षरादिना ज्ञायते तत् परं ज्ञानं परा विद्या त्रयीमयं त्वन्यत् अविद्या कर्म्माख्या।

ननु यदि ईश्वरो ब्रह्मैव, कथं तर्हि तस्यानिर्द्देश्यस्य भगवच्छब्दवाच्यत्वमित्याशङ्क्याह"—

"अशब्दगोचरस्यापि तस्यैव ब्रह्मणो द्विज!
पूजायां भगवच्छब्दः क्रियते ह्यौपचारिकः॥

[वि: पु: ६ । ५ । ७१]

शुद्धे महाविभुत्याख्ये परे ब्रह्मणि वर्त्तते।
मैत्रेय! भगवच्छब्दः सर्व्वकारण-कारणे॥
एवमेष महाशब्दो भगवान् इति सत्तम॥"

[वि: पु: ६ । ५ । ७२]

"अशब्देति—पूजायां निमित्तभूतायां आविष्कृतषाड्गुण्येन भगवच्छब्दः प्रयुज्यते। तत्रापि गुणानां स्वरूपाभिन्नत्वादुपचा-

रात् मत्वर्थीयः प्रयुज्यते। तद्भेदाविवक्षायाम् । ७१ । इत्थम्भूते मुख्यएव भगवच्छब्दो वर्त्तत इत्याह शुद्ध इति—शुद्धे असङ्गे महाविभूत्याख्ये अचिन्त्यैश्वर्य्ये ।" ७२ ।

परस्यापि ब्रह्मणस्तस्यैव भगवच्छब्दो नान्यस्य । अन्यस्य तु पूजायां पूज्यत्वं प्रतिपादने निमित्तो औपचारिक एव क्रियते, यतः शुद्ध इत्यादि । शुद्धएव सति महाविभुतिराख्यातिर्यस्य तस्मिन्। वक्ष्यते हि—"एवमेष महाशब्दः" इत्यादि साद्ध-द्वयेनान्यत्र ह्युपचारत इत्यन्तेन। "अक्षरार्थनिरुक्त्या भगवच्छब्दस्य परमेश्वरवाचकत्वमाह—सम्भर्त्तेत्यादिना"—

"सम्भर्त्तेति तथा भर्त्ता भकारार्थ-द्वयान्वितः ।
नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने !"

[विः पुः ६ । ५ । ७३]

सम्भर्त्ता पोषकः, भर्त्ता आधार इत्यर्थद्वयेनान्वितः । नेता कर्म्मज्ञान-फल-प्रापकः, नेतृत्वं प्रयोज्यंगमनगर्भमिति गकारार्थः । गमयिता प्रलये कार्य्याणां कारणं प्रति स्रष्टा पुनरपि तेषा-मुद्गमयिता सर्गकर्त्तेति वा गकारार्थ इति ।"

अत्र स्वामिभिर्व्वहिरङ्गान्तरङ्गयोः शक्तित्वेनाभेदविवक्षया व्याख्यातम् । शुद्धस्वरूपशक्तिविवक्षायान्तु तज्ज्ञानभक्तिफलप्रापकत्वाद्यभिप्रायेणार्थान्तरं योज्यमिति ।

"इदानीमक्षरद्वयात्मकस्य पदस्यार्थमाह"—

"ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य वीर्य्यस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चापि षण्णां भग इतीङ्गना ॥"

[विः पुः ६ । ५ । ७३]

इङ्गना ईरणं संज्ञेत्यर्थः । अत्र तैर्व्याख्यातमप्येवं ज्ञेयम् । ऐश्वर्य्यस्य वीर्य्यस्य मणिमन्त्रादीनामिव प्रभावस्य, यशसः विख्यातसद्गुणत्वस्य, श्रियः सर्व्वप्रकारसम्पत्तेः, ज्ञानस्य सर्व्व-

ज्ञत्वस्य वैराग्यस्य यावत्प्रापञ्चिकवस्त्वनासङ्गस्य च। समप्रस्यति सर्व्वत्रान्वितमिति ।

वकारार्थमाह—

"वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि ।
स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थ-स्ततोऽव्ययः" ॥

[वि: पु: ६ । ५ । ७५]

तत्राधिष्ठानभूते भूतानि वसन्ति स च भूतेषु वसतीति वकारार्थः॥

"एवमेष महाशब्दो भगवानिति सत्तम ।
परमब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः ॥"

[वि: पु: ६ । ५ । ७६]

एवमेष महाशब्दो वासुदेवस्य वाचकः; नत्वन्यस्येत्यर्थः । अक्षरनिरुक्तिपक्षे भश्च गश्च वश्चेति द्वन्द्वः ततश्च भगवा इति नामरूपा विद्यन्ते यस्य स भगवान् पृषोदरादित्वाद्धलोपः । तत्र त्वेकदेशेऽप्यर्थशक्तिमप्यक्षरसाम्यान्निब्रूयादिति निरुक्तात् ।

"तदेवं परमेश्वरे निरतिशयैश्वर्य्यादियुक्ते मुख्योऽयं शब्दः । अन्यत्र तु गौण इत्याह—

तत्र पूज्यपदार्थोक्तिपरिभाषा-समन्वितः ।
शब्दोऽयं नोपचारेण अन्यत्र ह्युपचारतः॥

[वि: पु: ६ । ५ । ७४]

पूज्यस्य श्रेष्ठपदार्थस्योक्तौ या परिभाषा,—संकेतरूपग्रहः, यदा तत्समन्वितोऽयंशब्दः तदा भगवति नोपचारेण प्रवर्त्तते— अन्यत्र देवादावुपचारेण प्रवर्त्तते। उपचारे बीजमाह—

"उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति ॥";

[वि: पु: ६ । ५ । ७८]

भगवच्छब्दवाच्यं षाड्गुण्यं प्रकारान्तरेणाह—

"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य्यवीर्य्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि बिना हेयैर्गुणादिभिः॥"

[बि: पु: ६। ५। ७९]

"हेयैः प्रकृति-गुणैः तत्कार्य्यैः कर्म्मभिस्तत्फलैश्च विना इति"। अत्र ज्ञानमन्तःकरणजं बलम, शक्तिरिन्द्रियजम बलम, शरीरजं तेजः कान्तिः। अशेषतः सामग्र्येणेत्यर्थ इति ज्ञेयम। "द्वादशाक्षरान्तर्गतभगवच्छब्दस्यार्थमुक्त्वा बासुदेवशब्दस्यार्थ-माह—

"सर्व्वाणि तत्र भूतानि बसन्ति परमात्मनि।
भूतेषु च स सर्व्वात्मा बासुदेवस्ततः स्मृतः॥"

[बि: पु: ६। ५। ८०]

"वसनाद्वासनाच्च वासुः साधनात् साधुरितिबत्। द्योतनाद्देवः।" बासुश्चासौ देवश्चेति बासुदेवः। तदुक्तम् मोक्षधर्म्मे—

"बसनाद्द्योतनाच्चैव बासुदेवं ततो विदुः" इति।

जनकादयो भगवन्नामालोचननिष्ठयैब ब्रह्मज्ञानं प्राप्ता इति दर्शयन्नाह, खाण्डिक्येतिषड्भिः—

"खाण्डिक्यजनकायाह पृष्टः केशिध्वजः पुरा।
नामव्याख्यामनन्तस्य बासुदेवस्य तत्त्वतः॥"

[बि: पु: ६। ५। ८१]

स्पष्टम्।

"भूतेषु बसते सोऽन्तर्व्वसन्त्यत्र च तानि यत्।
धाता विधाता जगतां बासुदेवस्ततः प्रभुः॥"

[बि: पु: ६। ५। ८२]

"भूतेषु सोऽन्तरिति बासुशब्दो व्याख्यातः धाताबिधाते-त्यादिना— देवशब्दो दिवेर्द्धातोरनेकार्थप्रपञ्चेन व्याख्यात इति ज्ञेयम्।"

"स सर्व्वभूतः प्रकृतेर्व्विकारान् गुणांश्च दोषांश्च मुने ! व्यतीतः ।
अतीतसर्व्वावरणोऽखिलात्मा तेनास्तृतं यद्भुवनान्तराले ॥"

[वि: पु: ६ । ५ । ८३]

"भुवनान्तराले यदस्ति तत् सर्व्वन्तेनास्तृतं छन्नं व्याप्तमिति यावत् ।"

"समस्तकल्याणगुणात्मको हि स्वशक्तिलेशावृत-भूतसर्गः ।
इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः संसाधिताशेषजगद्धितोऽसौ ॥"

[वि: पु: ६ । ५ । ८]

अत्र ग्रहिः प्रादुर्भावनार्थ इति ज्ञेयम । श्रीवृत्तिषु परमायास्तद्देहशोभासम्पत्तेर्भङ्ग्यान्तःपातेन स्वाभाविकत्वात् । उत्तरत्र शारीरबलादेरप्युक्तत्वात "तथैव कल्याणगुणानाह"—

"तेजोवलैश्वर्य्यमहावबोधः स्ववीर्य्यशक्त्यादिगुणैकराशिः ।
परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ति परावरेशे ॥"

[वि: पु: ६ । ५ । ८५]

"स ईश्वरो व्यष्टिसमष्टिरूपोऽव्यक्तस्वरूपः प्रकटस्वरूपः ।
सर्व्वेश्वरः सर्व्वदृक् सर्व्ववेत्ता समस्तशक्तिः परमेश्वराख्यः ॥"

[वि: पु: ६ । ५ । ८५]

व्यष्टिः सङ्कर्षणादिरूपः, समष्टिर्व्वासुदेवात्मा । अत्र प्रकटस्यरूपः श्रीविग्रहप्राकट्येनेति ज्ञेयम् । प्रकृतमुपसंहरति—

"संज्ञायते येन तदस्तदोषं शुद्धं परं निर्म्मलमेकरूपम् ।
संदृश्यते चाप्यधिगम्यते वा तज्ज्ञानमज्ञानमतोऽन्यदुक्तम" इति ॥

[वि: पु: ६ । ५ । ८७]

येन ज्ञायते परोक्षवृत्त्या संदृश्यते साक्षात्क्रियते, अधिगम्यते निःशेषाविद्यानिवृत्त्या प्राप्यते तज्ज्ञानं पराविद्या ।

अज्ञानं अविद्यान्तर्व्वर्त्तिनी अपराविद्येत्यर्थ इति ।

अत्रैतदुक्तं भवति—स एवंभूतऐश्वर्य्यादिगुणयुक्तो येन

ज्ञानेन तदेकरूपमेव तत्त्वमित्येव ज्ञायते तदेव विज्ञानमित्यस्य किं विवक्षितम् ? किमतदंशानां तत्तद्गुणानां परित्यागेन भेदगन्ध-रहितं तज्ज्ञायेन ? किम्वाचिन्त्यज्ञानगोचरतयैकमेव तत्त्वं गुण-गुणिरूपमितीत्थमेवाभेदं तज्ज्ञायेतेति ? उच्यते—
"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य्य" इत्यत्र हेयगुणमिश्रता निषेधात्तथा—
"गुणांश्च दोषांश्च मुने ! व्यतीतः" "समस्त - कल्याणगुणात्म-कोहि" इति गुणान्तरनिषेधपूर्व्वकतदात्मभूतगुणान्तर—स्थापनेन तेषां स्वरूपरूपता-प्रतिपादनाच्च ते परित्यक्तुं न शक्यन्ते ।

अतएवास्तदोषमित्येवोक्तं नत्वस्ततद्गुणदोषमिति । तस्मात्तेषामपि येन यथावस्थितानामेव स्वरूपत्वं ज्ञायते तज्ज्ञानमित्येव तात्पर्य्यम ।

अतएव भगोपलक्षणत्वेन केवलाद्वयस्वरूपमेवोच्यते इति च प्रत्याख्यातम्—भगवच्छब्देन भगवतश्च भगस्य च वाच्यत्वस्वीकारात, "तदेतद्भगवद्वाच्यं स्वरूपं परमात्मनः ।" इत्यनेन, "ज्ञातशक्तिबलैश्वर्य्यवीर्य्यतेजांस्यशेषतः । भगवच्छब्दवाच्यानि" इत्यनेन च ।

एवञ्च भगस्यापि स्वरूपभूतत्वमेव व्यक्तम् । तद्व्यक्तये एव च शुद्धस्वरूपनिरूपण एव "विभुं सर्व्वगतम्" इत्यत्र प्रभुता-वाचकविशेषणं दत्तम । एवमद्वैतशारीरककृतापि—

"ज्ञानैश्वर्य्यशक्तिबलतेजांसि गुणा आत्मन एव ते भगवन्तो वासुदेवाः" [शाङ्करभाष्ये ब्रह्म सूः २ । २ । ४८] इति पाञ्चरात्रिकं मतमुत्थापितम । श्रुतिपुराणादिभिः श्लाघिते तस्मिन्नपि साक्षाच्छ्रीभगवन्मते स्वरूपशक्तिवृत्तिविशेषाणां तेषां गुणानां गुणिनैक्यवृत्तौ दूषणं त्वद्वयवादस्थापनाग्रहेणैव कृतम् । तदाग्रहेण च 'कारणस्यात्मभूता शक्तिः' [शाः भाः] इत्यात्मवचनं नानुसंहितमिति । श्रीभगवदुपनिषत्सु च—

"परं भावमजानन्तो मम भूतं महेश्वरम्" [गीता ९ । ११] इत्यनेन भूतं परमार्थसत्यं महेश्वरलक्षणमेव स्वस्य परं तत्त्वमित्युक्तम् ।

अतएव स्वामिभिरपि तत्र तत्र तथा व्याख्यातम् । तथाच पाद्मोत्तरखण्डे—

"भगवानिति शब्दोऽयं तथा पुरुष इत्यपि ।
वर्त्तते निरुपाधिश्च वासुदेवेऽखिलात्मनि ॥" इति ।

तस्माद्भगविशिष्टस्यैव भगवतो ब्रह्मवत्परविद्यामात्रव्यङ्ग्यत्वेन स्वप्रकाशत्वं स्पष्टमेव । अत्र श्रुत्यन्तरञ्च श्रीमध्वभाष्ये प्रमाणितम्-"अथ द्वे वाव विद्ये वेदितव्ये—परा अपरा च । तत्र ये वेदाद्या यान्यङ्गानि यान्युपाङ्गानि सा अपरा । अथ परा यया स हरिर्वेदितव्यो योऽसावदृश्यो निर्गुणः परः परमात्मा" इति [माः भा, १ । २ । २१ ब्रह्मसूत्रम्] ।

कोटरव्यश्रुतावपि तेषां गुणानां परविद्यामात्रव्यङ्ग्यत्वं व्यञ्जितम्—
"अदृश्यमव्यवहार्यमव्यपदेश्यं सुखं ज्ञानमोजोबलम्" इति ।
"ब्रह्मणस्तस्माद्ब्रह्मेत्याचक्षते" इति ।
अन्यत्र च—

"अन्यजज्ञानन्तु जीवानामन्यजज्ञानं परस्य च ।
नित्यानन्दाव्ययं पूर्णं परं ज्ञानं विधीयते ॥" इति ।

अतो माध्वभाष्य एव प्रमाणितं श्रुत्यन्तरमपि तेन गुणिना तेषां गुणानां तद्व्यञ्जकशक्तेश्चैकात्मकत्वमेव प्रतिपादयति—

"यदात्मको भगवांस्तदात्मिका व्यक्तिः । किमात्मको भगवान् ? ज्ञानात्मक ऐश्वर्य्यात्मकः शक्त्यात्मकश्च" [माः भाः, २ । २ । ४१ ब्रह्मसूत्रम्] इति "यस्य ज्ञानमयन्तपः" [माः भाः, १ । २ । २२ ब्रह्मसूत्रम् ; मुः उः १ । १ । ९] इति ।

श्रुत्यन्तरेऽपि यस्य चित्स्वरूपमेवैश्वर्य्यमित्यभिधीयते ।

चतुर्व्वेदशिखायाञ्च—

"विष्णुरेव ज्योतिर्व्विष्णुरेव ब्रह्म विष्णुरेव आत्मा विष्णुरेव बलं विष्णुरेव आनन्दः" [मा: भा:, १ । ३ । ४० ब्रह्मसूत्रम्] इत्यादि ।

भागवततन्त्रे—

"शक्तिशक्तिमतोश्चापि न विभेदः कथञ्चन ।
अविभिन्नापि स्वेच्छादिभेदैरपि विभाव्यते ॥" इति ।
[मा: भा:, २ । ३ । १० ब्रह्मसूत्रम्]

विष्णुसंहितायाञ्च—

"इच्छाशक्तिर्ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिरिति त्रिधा ।
शक्तिशक्तिमतोश्चापि न भेदः कश्चिदिष्यते ॥" इति ।

तस्माद्भगवतैकरूपत्वमेव गुणानाम् , अतएव भारततात्पर्य्यप्रमाणिता श्रुतिः । "सत्यः सोऽस्य महिमहिमा गृणेशवो यज्ञेषु विप्रराज्य" इति । [भारततात्पर्य्य १ म । ६७ अः] अतो मायिकसर्व्वनिषेधावधि स्वरूपमुक्त्वा पश्चात्तस्यैवैश्वर्य्यादिकमुच्यते "एष सर्व्वेश्वरः" [बृः आः ४ । ४ । २२] इत्यादि । अतो गुणगुणिनोर्भेदपक्षेऽपि तदेकरूपमिति वचनं गुणानामन्तरङ्गत्वेन गुणिना सह तुल्यत्वात्तादात्म्यापत्तेश्च सङ्गच्छत एव ।

दहरविद्यायामपि तदीयगुणानां "दहर उत्तरेभ्यः" [ब्रह्मसू १ । ३ । १३] इतिन्याय-प्रसिद्धदहराख्यब्रह्मवदेव तत्राप्यन्तरङ्गतयैव च जिज्ञास्यत्वमन्वेष्टव्यत्वं चोक्तम् ।

तथाहि—"अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम् तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्" [छाः उः ८ । १ । १] इति । व्याख्यातञ्च श्रीरामानुजचरणैः—"यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे पुण्डरीके वेश्मेत्य-

नूच तस्मिन् दहरे पुण्डरीकवेश्मनि यो दहराकाशो यच्च तदन्तर्व्वर्त्ति गुणजातं तदुभयमन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यञ्चेति विधीयते" इत्यर्थः। "अस्मिन् कामाः समाहिताः" [छाः उः ८।१।५] इति हि कामत्वात् कामाः कल्याणगुणास्तदन्तःस्था उच्यन्ते। "ते च गुणा अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते" इत्यादिभिर्व्विभुत्वादयः "अयमात्माऽपहतपाप्मा" इत्यादिभिरपहतपाप्मत्वादयश्च तत्र बहव एव व्याख्याताः सन्तीति।

वाक्यकारैश्च त एव तदन्तरस्थत्वेनोक्ताः—"तस्मिन् यदन्तर्" इति "कामव्यपदेशः" इत्यादिनेति।

अत्र यदि दहरज्ञानार्थं द्यावापृथिव्यावेवान्वेष्टव्यत्वादिभ्यां बिबक्षिते तदा ज्ञातत्वात्ते पूर्व्वमुपदिश्याज्ञातत्वात् पश्चादेव दहर उपादेक्ष्यत इति ज्ञेयम्। तस्मात् स्वरूपभूता एते गुणाः सहस्रनामभाष्ये चाद्वैतगुरुभिरपीदमुक्तम्—"साक्षादव्यवधानेन स्वरूपबोधेन पश्यति सर्व्वमिति "साक्षी"; निरुपाधिकमैश्वर्य्यमस्येति "ईश्वरः"—"एष सर्व्वेश्वरः" [बृः आः उः ४।४।२२] इति श्रुतेरिति। अत्र 'सर्व्व'शब्देनोपाधेरपि परिग्रहात्तदतिरिक्तमैश्वर्य्यमिति भावः।

अथ यत् पृष्टम्—निषिद्धनीलपीताद्याकारस्य तस्य ज्ञानमात्रबस्तुनः कथं तत्तद्वर्णत्वं कथम्वा परिच्छेदरहितस्य चतुर्भुजाद्याकारत्वेन परिच्छिन्नत्वं कथम्वा वैकुण्ठादीनामपि तद्रूपत्वमिति ?

तत्रैश्वर्य्यादिबत् स्वप्रकाशत्वेन विभुत्वेन च तत्तादुपाधिरहितस्वरूपमात्रत्वं प्रमाण-चक्र-चक्रबर्त्ति-विद्वदनुभवसेव्यमानैः शब्दैरेव प्रमितं दर्शयिष्यते।

तदेवं भगपदमत्र—"भास्वानयमुदयते" इत्यादौ भाशब्दादिबन् स्वरूपांशभूतं बिशेषणमेव—न तूपलक्षणम्।

ततश्च भेदवृत्तिप्राधान्येन वा केवलया भेदवृत्त्या वा कृतेऽपि मत्वर्थीये स्वरूपशक्तिवृत्तीनामद्वये ज्ञानेऽप्यपरिहरणीयत्वात्, स्वरूप-शक्ति-वृत्तिलक्षणेन भगेन सहैव भगवतस्तेनाद्वयज्ञानेनैकवस्तुत्वमेव सिद्ध्यतीति कृतं जहदजहल्लक्षणमयकष्टकल्पनया। तत एवेत्थं प्रौढ़ियुक्तमुक्तम्—"भगवानपि तदद्वयं ज्ञानं शब्द्यते" इति।

तत्र प्रमाणं तत्त्वविद इत्यनेन विद्वदनुभवः शब्दश्चेति।

तदेतत सर्व्वसम्वादेन प्रकरणमारभ्यते—

"अथ सा भगवत्ता च नारोपिता" इत्यादिना। अथ श्रीविग्रहस्य पूर्णस्वरूपभूतत्वस्थापकप्रकरणारम्भे पञ्चविंशवाक्यस्यावतारिकायां तदेवमैश्वर्य्यादीत्यादावेवं वेदान्ताविचारणीयाः। ननु तस्यारूपत्वमेव वेदैः प्रस्तूयते—"अस्थूलमनणु" [बृः आः उः ३। ८। ८] इत्यादिभिः—

"अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यवर्णः।
स वेत्ति विश्वं न च तस्य वेत्ता तमाहुराद्यं पुरुषं महान्तम्"॥
[श्वेताश्वः उः ३। १९] इत्यादिभिश्च उच्यते।

तस्य स्वरूपभूतसर्व्वशक्तित्व-स्थापनया रूपस्यापि सिद्धिः,—श्रुतिलब्धैवेति।

किञ्च "अथ यदतः परोदिवोज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः" [छाः उः ३। १३। ७] इति। अत्र ज्योतिःशब्देनैव प्रसिद्धं ब्रह्म ब्रह्मत्वञ्चास्य प्रकरणबलात् सूत्रकृद्भिः साधितम् ततस्तस्य ज्योतिष्ट्वे सति रूपित्वमेव सिद्ध्यति।

ननु "वाचैवायं ज्योतिषास्ते" [बृः आः उः ४। ३। ५] "मनोज्योतिर्जुषताम्" [तैः ब्राह्मण १। ६। ३। ३] इत्यादिदर्शनात् नात्र तच्छब्दश्चक्षुरनुग्राहके तेजसि वर्त्तते। किं तर्हि

यद् यस्यावभासकं तदेव तत्र ज्योतिरुच्यत इति । ब्रह्मणोऽपि चैतन्यमात्रस्य सर्व्वावभासकत्वात् ज्योतिष्ट्वं सत्यम् । यद्यपि तत्-स्वरूपत्वादपि ज्योतिष्ट्वं भवेत् तथापि प्रसिद्धार्थं यत् ज्योतिष्ट्वं तदपि तस्यावगम्यते श्रुत्यन्तरात् । तथाहि—

"न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्व्वं तस्य भासा सर्व्व-मिदं विभाति" [बृः आः ४ । ४ । १६ कठोपनिषत् २ । २ । १५] इति समामनन्ति । अत्र तेजःस्वभावानां सूर्य्यादीनां तत्र भानप्रतिषेधात् पूर्व्ववत् ज्योतिरूपत्वमेवोपपद्यते । सूर्य्येऽव-भासमाने चन्द्रतारकादि न भासत इतिवत् । एवं समान-स्वभाव एवानुकारदर्शनाच्च तद्रूपत्वमेव—गच्छन्तमनुगच्छन्ती-तिवत् । यत्तु वह्निं दहन्तमनुदहति सुतप्तं लोहमित्यत्र वायुं वहन्तं तमनुवहति रज इत्यत्र चान्यथात्वं तत्रापि दहनवहन-क्रिययोस्तत्रैव मुख्यत्वमिति । ब्रह्मण्यपि तादृशज्योतिष्ट्वस्य तथा-त्वम् । एवं तद्भासा सर्व्वस्य भासमानत्वेऽपि तद्रूपत्वं सिद्ध्यति । अतएवानुमानमिति सिद्धम् । सूर्य्यमनुभान्ति रश्मय इतिवत् । नतु दीपो दीपान्तरमनुभातीतिवद्विरुद्धम् । अतस्तस्य प्रसिद्धार्थ-ज्योतीरूपत्वे सर्व्वपरत्वे च श्रुतिशब्देष्वेव सति किंनामान्यथा-गतिक्रियया । "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इतिवत् । तथाहि "भारूपः सत्यसङ्कल्पः" इति ।

"हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः" ॥
[मुः २ । २ । ६] इति ।

ब्रह्म ह्यन्यद्व्यनक्ति ब्रह्मान्येन न व्यज्यते ।
"आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते" [वृ ४ । ३ । ६]

"अगृह्यो नहि गृह्यते" इति [वृः ३ । ६ । २६] "येन सूर्य्य-

स्तपति तेजसेद्धः" इति च। तथाचोक्तम्—

"यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्"॥ इति
[गीः १५। १२]

तस्माद्रूपवदेव तदिति स्थितम्। "ज्योतिश्चरणाभिधानात्"— [१। १। २४] इत्यधिकरणे श्रीरामानुजचरणैश्चैवमाचक्ष्यते।

"एतावानस्य महिमा अतोज्यायांश्च पुरुषः।
पादोऽस्य विश्वभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥"
ऋः सं १०। ६ इति [छाः उः ३। १२। ६]

प्रतिपादितस्य चतुष्पदः परमपुरुषस्य।—

"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसस्तु पारे।"
[श्वेताश्वः ३। ८]

इत्यभिहिता प्राकृतरूपस्य तेजोऽप्राकृतमिति। तद्वत्ताया स एव ज्योतिःशब्दाभिधेय इति।

किञ्च "श्यामाच्छबलं प्रपद्यते [छाः ८। १३। १] सुवर्णा-ज्ज्योतिः" इति। [तैः ३। १०। ६] तस्य हैतस्य चत्वारि रूपाणि शुक्लं रक्तं रौक्मं कृष्णमिति।—

"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।"
इति। [मैः उः ६। १८]

"स ऐक्षतः" इति। [ऐः उः १। १। १]

"सर्व्वे निमेषाजज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि" इति
[महानारा १। ८]।

"न चक्षुषा पश्यति रूपमस्य" इति। [महानारा १। ११]

"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्"॥
इति। [कठः २। ३ मुण्ड ३। २। ३]

"वुद्धिमत्ताङ्गप्रत्यङ्गवत्तां भगवतो लक्षयामहे",—"वुद्धिमान् मनोवानङ्गप्रत्यङ्गवान्" इत्याद्यैः [माः भाः, २ । २ । ४१ ब्रह्मसूः] "प्रकाशवच्चावैय्यर्थात्" [ब्रह्मसूः ३ । २ । १५] "रूपोपन्यासाच्च" [ब्रह्मसूः १ । २ । २३] इत्यादौ माध्वभाष्यादिप्रमाणितैर्व्वेदैः 'पश्यते' 'विवृणुते 'लक्षयामहे'—इत्याद्यभ्यस्तविद्वत्प्रत्यक्षपक्षपातबलवत्तारैर्व्विरोधात् "अपाणिपादादि"—वेदानां न तथार्थः सङ्गच्छत इति न तावत्तास्यारूपत्वं प्रतिपादितम् ।

दर्शनादिक्रियायां न मनोरथकल्पनामात्रत्वं चिन्त्यम् । उक्तञ्चाद्वैतशारीरकेऽपि,—अभिध्यायतेरतथाभूतमपि कर्म्म भवति मनोरथकल्पितस्याप्यर्भिध्यायतिकर्म्मकत्वात् ईक्षतेस्तु यथाभूतमेव वस्तु लोके कर्म्मदृष्टमितीति ।" अन्यत्रापि दर्शनस्य यथार्थोपलब्धार्थत्वं दृष्टम ।—

यथा, "दृष्ट एवात्मनीश्वरः" [माण्डुक्य उः २ । २ । ८] इत्यादौ । तस्मात् अपादपाण्यादिवेदैः कथमेते विरुद्धेयरन् ? तस्य रूपस्य ब्रह्मणि स्वरूपभूतसर्व्वशक्तित्वस्थापनया "सर्व्वैर्युक्ता शक्तिभिर्द्देवतास्य" इत्यादौ नित्यरूपेति विशेषोपदेशेन च नित्यत्वं सिद्धमेव । स्वरूपनित्यत्वं तु तत्र "शाश्वतात्मा" इत्यनेनैवोक्तम् । अतएव "विवृणुते" इत्येवोक्तम्—न तु कल्पयतीति ।

अत्रोदाहरिष्यन्ते च श्रुतिस्मृतयः ।—उदाहृता च "यत्र नान्यत् पश्यति" [वृः आः] इत्यादि तदित्थमन्यप्राकृतरूपसादृश्येन कुतर्कविशेषश्च परिहृतः वैलक्षण्यात्, कालात्ययापदिष्टत्वात्—शास्त्रयोनित्वात्" इति [ब्रह्मसूः १ । १ । ३] न्यायेन शब्दैकप्रामाण्याच्च ।

तत एव यथाग्नेः सूक्ष्मरूपेणाव्यक्तत्वात् क्वचित् कदाचिदमूर्त्तातास्थूलरूपेण व्यक्तत्वात् कदाचिन्मूर्त्तता तथा, ब्रह्मणोऽपी-

त्यपि निरस्तम्। विशेषतस्तत्राव्यक्तताव्यक्तताभेदश्च निषेद्धव्यः। तस्माद्रूपित्वमरूपित्वञ्चेति न। अत्र समुच्चय-व्यवस्था त्वेकाधिकरणत्वान्न सम्भवत्येव।

तथा विकल्पोऽप्यष्टदोषदुष्टत्वेन क्रियायामिव वस्तुनि तस्यासम्भवान्न स्यादिति रूपित्वश्रुतिरेव सर्व्वोपमर्द्दिनी।

तर्हि कास्विदरूपश्रुतेर्गतिः ? उच्यते, 'अरूपरूपप्रतिपादकतया द्विविधस्य श्रुतिजातस्य परस्परसङ्घट्टने सति दुर्व्वलानामरूपश्रुतीनां तदनुगमनमेव गतिः। तदनुगमनं चात्र, कस्यचिद्रूपस्यैव सतोभवेदरूपत्वलक्षणप्रसाधनम्। तथाविधं रूपञ्चात्र प्राकृतादन्यदेव युज्यते। यथा भगसंज्ञकमैश्वर्य्यादिषट्कम्।

यदैव हि स्वरूपशक्तिप्रकाशमानत्वेन स्वप्रकाशमात्रं भवेत् तदा चक्षुरप्रकाश्यत्वात् अरूपत्वमङ्गीकरोति। तत एव स्थूलसूक्ष्माख्यव्यक्ताव्यक्तपदार्थेभ्यो विलक्षणं तद्रूपमिति—वेदान्ते वैष्णवप्रस्थानविदामभिप्रायः।

तथाच "प्रकाशवच्चावैशेष्यम्" [ब्रह्मसू: ३। २। २५] इत्यत्र व्याख्यातं माध्वभाष्ये—"अग्न्यादिवत् स्थूल-सूक्ष्मत्व-विशेषात्तस्य तादृशत्वं न सम्भवति।

"नासौ स्थूलो न सूक्ष्मः पर एव स भवति तस्मादाहुः परमम्" इति माण्डव्यश्रुतेः।

"स्थूलसूक्ष्मविशेषोऽत्र न क्वचित् परमेश्वरे।
सर्व्वत्रैकप्रकारोऽसौ सर्व्वरूपेषु वर्त्तते॥" इति गारुडात्।
"अव्यक्तव्यक्तभावौ च न क्वचित् परमेश्वरे।
सर्व्वत्राव्यक्तरूपोऽसौ यत एव जनार्द्दनः॥" इति कौर्म्मादिति।

यस्मादव्यक्तव्यक्तभावौ तस्मिन्न स्तः तस्मात्ताभ्यामतिरिक्तं रूपं—"यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यम" [श्रीभा: १०। ३। २१] इत्यादौ प्रसिद्धं यदव्यक्ताख्यं परं तत्त्वं तदेव रूपं विग्रहो यस्येति

कौर्म्मवचनार्थः। अस्य पूर्णपरमतत्त्वाकारत्वमग्रे मूलग्रन्थ एव विवेचनीयम् । अतएव बहुव्रीहिरयमौपचारिकेणैव भेदेन बोद्धव्यः।

अतएव तस्य रूपस्य परविद्यैकव्यङ्ग्यस्वप्रकाशपरब्रह्मत्वं—"यदा पश्यः पश्यत" इत्यस्यान्ते तद्दर्शनमात्रेणाशेषकर्म्मविधूनन-पूर्व्वक-परमसिद्धिप्राप्ति-लिङ्गतो व्यञ्जितम्—

"तदा पुमान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनं परमं साम्यमुपैति" इत्यनेन।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिः"इत्यादिश्रुति-सामान्यात्—तथापरापि श्रुतिरादित्यपुरुषमधिकृत्य सर्व्वपाप्मात्ययकथनोत्तरमेव रूपं वर्णयन्ती तस्य रूपस्य पाप्मापरपर्य्यायमायिकदोषराहित्यमे-वाङ्गीकरोति। "एष आत्मापहतपाप्मा" [छाः उः ८।१।५] इति श्रुतिसामान्यात् । तज्ज्ञानिनामपि पाप्मात्ययलिङ्गात् कैमुत्येन च तदेव दृढ़यति—

"अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सुवर्णस्तस्य कप्यासं सर्व्वएव पुण्ड-रीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम एष सर्व्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः। उदेति ह वै सर्व्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद" इति। [छाः उः १।६।६७]

किञ्च "नासदासीदाख्ये" [ऋक्सं १० म १२९ सूः १ मन्त्रः] ब्रह्मसूक्ते ब्रह्मणि प्राकृतातीतस्य प्राणस्य सद्भावश्रवणेन तन्नि-षेधवाक्यम्,—"अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः" [मु २।१।२] इत्यादिकं प्राकृतविषयमेवेति गम्यते। यथा—

"न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधयातदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥"
[ऋक्सं १० म १२९ सूः २ मन्त्रः]

अत्र स आनीदिति प्राणकर्म्मोपादानात् प्रागुत्पत्तेः सन्तमेव प्राणं सूचयति ।

एवं वा "अरे महतो भूतस्य निश्वसितमेतत् [बृः आः २ । ३ । १०] इति श्रुत्यन्तरे च तत् सद्भावस्तस्मिल्लँ क्ष्यते । तत्र "अवातम्" इति विशेषणात्तु प्राकृतवातत्वं निषेधतीति स्पष्ट-मेव । ततस्तथाविधप्राणत्वश्रवणेन तत्सहचारिणः श्रीविग्रहस्य सद्भावस्तादृशभावश्च गम्यत एव ।

"चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।
उपासकानां कार्य्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना" ॥ इति [रामः उ ७]

चैवं व्याख्यायते । "रामं वन्दे सच्चिदानन्दरूपं गदारि-शङ्खाब्जधरम्" इति [रामः उ ३२] तत्रैव वक्ष्यमाणत्वात् । पृथक्शरीरधारितारहितस्य रूपकल्पना अष्टविधप्रतिमारचनं विधीयत इत्यर्थः ।

स च श्रीविग्रहोऽनन्तरूपात्मक एव श्रुत्यन्तरे तेषां रूपाणा-मेतावत्त्वनिषेधात् । तथाहि—"मूर्त्तञ्चैवामूर्त्तञ्च" [बृः आः २ । ३ । १] इत्युपक्रम्यामूर्त्तरूपस्य च पुरुषशब्दोदितस्य महा-रजनादिरूपाणि दर्शयित्वा तदनन्तरम—"अथात आदेशो नेति नेति" [बृः आः २ । ३ । ६] इत्यत्र समाप्त्यर्थत्वात् इय-त्तावाचकेन 'इति'शब्देन प्राकृतरूपस्य एतावत्त्वं निषेधति ।

पुनः स्वयमेव सा श्रुतिः—"नह्येतस्मात्"इति "नेत्यन्यत् परमस्ति" इत्यत्रादेशवाक्यमेव व्याचक्षाणा ततःपरमन्यदपि रूपवृन्दमस्तीति ब्रवीति । "नह्येतस्मान्मूर्त्तलक्षणाद्रूपादमूर्त्त-लक्षणं रूपम्" इति एतावदेव वक्तव्यं किन्तु नेति नैतावत् । यतोऽन्यदपि परं रूपमस्तीत्यादेशवाक्यार्थः इत्यर्थः ।

एवमाह सूत्रकारः । "प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः" [ब्रः सूः ३ । २ । २०] ।

अत्र रूपमात्रनिषेधे श्रुत्यभिप्रेते सति महारजनादि-सदृशा-रूपमलोकप्रसिद्धं स्वयमुपदिश्य पुनर्निषेधकारिण्यास्तस्या उन्मत्तप्रलपिता स्यात्, सूत्रकारस्य च एतावत्त्वमिति संख्यात्मक-भावप्रयोगोऽसमीक्ष्य कारितायै भवेत्। एतद्रूपञ्च—निषेधतीत्येव सूचयितुं कथञ्चिदुक्तं स्यादिति।

अथ पञ्चचत्वारिंशस्य वाक्यस्य व्याख्यान्ते इदं विचार्य्यम्, यत् तस्य श्रीविग्रहस्य परिच्छिन्नत्वेऽप्यपरिच्छिन्नत्वं श्रूयते तच्च युक्तम्—अचिन्त्यशक्तित्वात्, सर्व्वेषां विभुत्वादिपरमशक्तीनामेकाश्रयत्वाच्च। यथैव हि श्रीकृष्णविग्रहमधिकृत्योज्जगौ मूलेऽपि—यथा च दहराकाशसंज्ञस्य परमेश्वरस्य तथाहि "दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश [छाः उः ८। १। १] इत्युक्त्वोच्यते—"यावान् वा त्वयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः" [छाः उः ८। १। ३] इति।

दृष्टान्तश्चायमिपुवद्गच्छति सवितेतिवदत्यन्तं महत्त्वमेव निर्द्दिशति। वाक्यान्तराणि च।-"ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्" [छाः ३। १४। ३] इति; "उभे अस्मिन् द्यावा पृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च" [छाः ८। १। ३] इति; "सूर्य्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि" [छाः ८। १। ३] इति; "यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्व्वन्तदस्मिन् समाहितम्" [छाः ८। १। ३] इति च।

अत्र यावता हृदयपुण्डरीकान्तर्व्वर्त्तित्वम् तावता एव सर्व्वव्यापकत्वमचिन्त्यां शक्तिं विना न सम्भवति। नहि घटवर्त्त्याकाशो यावान् तावदेव चन्द्रसूर्य्याद्याधारत्वं युज्यत इति। नच हृत्पुण्डरीके ब्रह्मणः प्रतिबिम्बत्वात् सर्व्वसमावेशः सम्भवतीति। विभोः परिच्छिन्नोपाधौ सामस्त्येन प्रतिबिम्बत्वमदृष्टचरम्। नहि छटादावाकाशः सामस्त्येन प्रतिबिम्बत्वमापद्यतेति।

तस्मादचिन्त्यैव शक्तिर्योगमायाख्या तत्राभ्युपगमनीया। एवमेवैकैर्ब्रह्मसूत्रेषु वैश्वानराख्यस्य प्रादेशमात्रत्वेन श्रुतस्य परमपुरुषस्य विचारे सिद्धान्तितम्। "सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति।" [ब्रह्म सूः १।२।३२] यथा सम्पत्तिरचिन्त्यैश्वर्य्यं श्रुतिश्च तथा दर्शयति—

"यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" [छाः उः ५।१८।१] इति। मितत्वेन सर्व्वतो विगतमानत्वेन च दर्शनात्। तत्रैव "प्रादेशमात्रे तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्व्विश्वरूपः" [छाः उः ५।१८।२] इत्यादिना त्रैलोक्यसमावेशनाच्चेति।

अत्र श्रीविग्रहप्रसङ्गे सूत्रचतुष्टयस्य माध्वभाष्ये यथा—

१। "अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्" [ब्रह्म सूः ३।२।१४] इति।

अस्य सूत्रस्य भाष्यं यथा—"प्रकृत्यादिप्रवर्त्तकत्वेन तदुत्तमत्वान्नैव रूपवद्ब्रह्म—हिशब्दात्, "अस्थूलमनणु" [बृः आः ३।८।८] इत्यादिश्रुतेश्च।

"भौतिकानीह रूपाणि भूतेभ्योऽसौ परो यतः।
अरूपवानतः प्रोक्तः क्व तदव्यक्ततः परः"॥

इति च मात्स्ये।

२। "प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्" [ब्रह्म सूः ३।२।१५] इति।

भाष्यम्—"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं" [मुः १।३] "श्यामाच्छवलं प्रपद्यते" [छाः ८।१३।१] "सुवर्णज्योतिः" [तैः उः ३।१०।६] इत्यादि श्रुतीनाञ्च न वैयर्थ्यं विलक्षणरूपत्वात्। यथा चक्षुरादि प्रकाशे विद्यमानेऽपि वैलक्षण्याद्प्रकाशत्वादिव्यवहारः"।

३। "आह च तन्मात्रम्" (ब्रह्म सू: ३।२।१६ इति।

भाष्यम्—"वैलक्षण्यं चोच्यते—

रूपस्य विज्ञानानन्दमात्रत्वमैकात्म्यप्रत्ययसारमिति।

"आनन्दमात्रमजरं पुराणं एकं सन्तं बहुधा दृश्यमानम्।
तमात्मस्थं ये तु पश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्"
—(कठ ५।१२; श्वेताश्व ६।१२) इति चतुर्व्वेदशिखायाम्।

४। "दर्शयति चाथोऽपि स्मर्य्यते" (ब्रह्म सू: ३।२।१७) इति। भाष्यम्—"दर्शयति चानन्दस्वरूपत्वम्—

"तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः आनन्दरूपमजरं यद्विभाति" (मु: उ: २।२।७) इति श्रुतिः।

"शुद्धस्फटिकसङ्काशं वासुदेवनिरञ्जनम्।
चिन्तयीत यतिर्नान्यं ज्ञानरूपादृते हरेः" इति॥ भाष्य इति।

अत्र "आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्" इति भेदनिर्द्देशश्च श्रूयते। तथा माध्वभाष्य (२।२।४१) एवोदाहृतम् श्रुत्यन्तरञ्च—

"सदेहः सुखगन्धश्च ज्ञानभाः सत्पराक्रमः।
ज्ञानाज्ञानः सुखी मुख्यः स विष्णुः परमाक्षरः"॥ इति।

श्रीरामानुजचरणाश्चैवं वदन्ति—"अन्तरस्तद्धर्म्मोपदेशात्" (ब्रह्म सू: १।१।२०) इति। अत्र भाष्यम्—"परस्यैव ब्रह्मणो निखिलहेयप्रत्यनीकानन्तज्ञानानन्दैकस्वरूपतया सकलेतरविलक्षणस्य स्वाभाविकानतिशयासंख्येयकल्याणगुणगणाश्च सन्ति।

तद्वदेव स्वाभिमतानुरूपैकरूपाचिन्त्यदिव्याद्भुतनित्यनिरवद्यनिरतिशयौज्ज्वल्यसौन्दर्य्यसौगन्ध-सौकुमार्य्य-लावण्य-यौवनाद्यनन्त-गुणनिधि दिव्यरूपमपि स्वाभाविकमस्ति। तदेवोपासकानुग्रहेण तत्तत्प्रतिपत्त्यनुरूपसंस्थानं करोत्यपारकारुण्य-सौशील्य-वात्सल्यौदार्य्यजलनिधि-निरस्ताखिल-हेयगन्धोपहत-

पाप्मा परं ब्रह्म पुरुषोत्तमो नारायण इति"।

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" [तैः उः भृगु १]; "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" [छाः उः ६ । २ । १]; "आत्मा वा इदमेकः एवाग्र आसीत्"; [ऐत १ । १ । १] "एको हि वै नारायण आसीत्—न ब्रह्मा नेशानः"; [महोप १ । १] इत्यादिषु निखिलजगदेककारणतयावगतस्य परस्य ब्रह्मणः "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" [तैः आ १] "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" [बृः आः ५ । ६ । २८] इत्यादिष्वेवम्भूतं स्वरूपमित्यवगम्यते। "निर्गुणं" [आत्मोपनिषत्] "निरञ्जनम्" [श्वेताश्व ६ । १६] "अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः"—[छाः उः ८ । ५ । १]

"न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्व्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" ॥
[श्वेताश्व ६ । ८]

"तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तद्दैवतानां परमञ्च दैवतं" ।
[श्वेता ६ । ७]

"स कारणं कारणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥" [श्वेताश्व ६ । ६]

"सर्व्वाणि रूपाणि विचिन्त्य धीरो
नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते ।" [यजु अः ३ । १२]

"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥"
(यजु माः ३ । १२)

"सर्व्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि" (तैः नाराः १ अः) इत्यादिषु परस्य ब्रह्मणः प्राकृतहेयगुणान् प्राकृतहेयदेहसम्बन्धं तन्मूलकर्म्मवश्यतासम्बन्धञ्च प्रतिषिध्य कल्याणगुणान् कल्याणरूपञ्च वदन्ति । तदिदं स्वाभाविकमेव रूपमुपा-

सकानुग्रहेण तत्प्रतिपत्त्यनुगुणाकारं देवमनुष्यादिसंस्थानं करोति स्वेच्छयैव परमकारुणिको भगवान्। तदिदमाह श्रुतिः,— "अजायमानो बहुधा बिजायते" (पुरुष सूः) इति। स्मृतिश्च,— "अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानाम्" (गीता ४। ६) इति। न "परित्राणाय साधूनाम्" इत्यादि "साधवो ह्युपासकाः"। तत्-परित्राणमेवोद्देश्यम् आनुषङ्गिकस्तु दुष्कृतां विनाशः, सङ्कल्प-मात्रेन तदुत्पत्तेः। "प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय" इत्यादि। "प्रकृतिं स्वाम्" इति प्रकृतिः स्वभावः। स्वमेव स्वभावमास्थाय न संसा-रिणं स्वभावमित्यर्थः।

आत्ममाययेति स्वसङ्कल्परूपेण ज्ञानेनेत्यर्थः। "मायावयूनं ज्ञानम्" (वेदनिर्घण्टौ धर्म्सवर्गे २२ श्लोकः) इति ज्ञानपर्य्या-यमपि मायाशब्दं नैर्घण्टुका अधीयते।

आह च भगवान् पराशरः—

"समस्ताः शक्तयश्चैता नापुर्यत्र प्रतिष्ठिताः।
तद्विश्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्धरेर्म्महत्॥
समस्तशक्तिरूपाणि तत् करोति जनेश्वर।
देवतिर्य्यङ्मनुष्याख्याचेष्टावन्ति स्वलीलया॥
जगतामुपकाराय न सा कर्म्मनिमित्तजा"

(विष्णु ६। ६। ६०) इति।

महाभारते चावताररूपस्याप्यप्राकृतत्वमुच्यते,—

"न भूतसङ्घसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः" इति

महाभारते उद्योगपर्व्वणि।

अतः परस्यैव ब्रह्मण एवंरूप-रूपवत्त्वादयमपि तस्यैव धर्म्मः (श्रीभाष्य १। १। २०) इति।

अत्र तैरपि बिश्वरूपाद्वैलक्षण्यबत्त्वेन स्वरूपान्तरङ्गधर्म्मत्वेन स्वरूपान्तरङ्गधर्म्माणां तत्तादबयबसन्निवेशानां स्वरूपमेव धर्म्मि

भवेदित्येवं तदेवावयवीदेह इत्यागतत्वेन, युगपदपि समस्तशक्ति-प्रादुर्भाव-कर्त्तृत्वेन च स्वरूपत्वमेवाङ्गीकृतं'—पूर्णत्वञ्च ।

ताश्च शक्तयो निजेच्छात्मकस्वाभाविकशक्तिमय्य इति तासामपि तद्रूपत्वं ध्वनितम् ।

अतः कर्त्तृत्वमप्यत्र प्रादुर्भावयितृत्वमेव नतु कल्पयितृत्वमिति । तथा "मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः आकाशात्मा सर्व्वकर्म्मा सर्व्वकामः सर्व्वगन्धः सर्व्वरसः सर्व्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः" (छा: उ: ३ । १४ । २) इत्यपि । त इदमाहुः,—'मनोमयः'—परिशुद्धेन मनसैकेन ग्राह्यः; 'प्राणशरीर'—इति जगति सर्व्वेषां प्राणानां धारकः । 'भारूपः' भास्वरूपः,— अप्राकृतस्वासाधारण-निरतिशय-कल्याण-दिव्य-रूपत्वेन निरतिशयदीप्तियुक्त इत्यर्थः । "आकाशात्मा" आकाशवत् सूक्ष्मस्वच्छरूपः,-सकलेतरकारणस्यात्मभूत इति आकाशात्मा,-स्वयञ्च प्रकाशतेऽन्यांश्च प्रकाशयतीति वाकाशात्मा । एवं 'सर्व्वकर्म्मा,-क्रियते इति कर्म्म,—सर्व्वं जगदस्य कर्म्म सर्व्वा वा क्रिया यस्यासौ सर्व्वकर्म्मा । 'सर्व्वकामः,'—काम्यन्त इति कामा भोग्यभोगोपकरणादयस्ते परिशुद्धाः सर्व्वविधास्तस्य सन्तीत्यर्थः ।

'सर्व्वगन्धः 'सर्व्वरसः,'—"अशब्दमस्पर्शम्" इत्यादिना प्राकृतगन्धादिनिषेधादप्राकृतस्वासाधारणा निरवद्या निरतिशयाः कल्याणाः स्वभोग्यभूताः सर्व्वविधा गन्धरसास्तस्य सन्तीत्यर्थः । सर्व्वमिदमभ्यात्त उक्तमिदं पर्य्यन्तं सर्व्वमिदं कल्याणगुणजातं स्वीकृतवान् । 'अभ्यात्तः' इति "भुक्ता ब्राह्मणाः" इतिवत् कर्त्तरि क्तः प्रतिपत्तव्यः । अवाकी—वागुक्तिः सास्य नास्तीत्यवाकी,—कुत इत्याह—'अनादरः' इति ।

अवाप्तसमस्तकामत्वेनादर्त्तव्याभावादादररहितः । अतएवावाकी अजल्पाक इति ।

अत्र प्राणशरीर इति प्राणवदुपासकानां परमश्रेष्ठशरीर इत्यर्थः इत्यपि। तथा प्राणयति सर्व्वमिति प्राणं परं ब्रह्मैव शरीरं यस्य स इत्यर्थः। इत्यपि च व्याख्यानं घटते।

"ॐ नमस्ते" इत्यादि "देवाः श्रीहरिं" [श्रीभाः ६।-६।३०] इत्यत्र तस्य हरित्वं "आहात् प्रपन्नम्" [श्रीभाः ११।-४।१८] इत्यादौ मुक्ताफलव्याख्यानुसृतैकादशस्कन्धवाक्य-स्वारस्याल्लभ्यते। अतएवात्रापि "अथैवमीड़ितो राजन् सादरं त्रिदशैर्हरिः" [श्रीभाः ६।६।४२] इत्यत्र हरिशब्देनैवोक्तोऽसाविति।

पृथिवीत्यादि। अत्र 'यदण्डमण्डान्तरगोचरं च" इत्यादि-पद्य एवं विवेचनीयम्।

यद्यपि श्रीरामानुजीयैर्निर्व्विशेषं ब्रह्म न मन्यते, तथापि सविशेषं मन्यमानैर्विशेषातिरिक्तं मन्तव्यमेव। तच्च ब्रह्मशब्दे-नोक्तं विशिष्टब्रह्मणो गुणभूतमिति "सोऽश्नुते सर्व्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" [तैः उः २।१।१] इत्यत्र सहशब्द-बलेन तैरेव व्याख्यातम्।

तच्चाग्रे मूल एव विवेचनीयम्। अथाष्टनवतितमवाक्यव्या-ख्यान्ते "सवा एष पुरुषोऽन्नरस मयः" (श्रीभगवत्सन्दर्भे) [तैः उः २।१।१] इत्यादिका श्रुतिर्व्विवृत्य व्याख्यायते। यथा "सवा एष पुरुषोऽन्नरसमयस्तस्येदमेव शिरः, अयं दक्षिणः पक्षः, अयमुत्तरः पक्षः, अयमात्मा, इदं पुच्छं प्रतिष्ठा।" "तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तरः आत्मा प्राणमयस्तेनैष पूर्णः। सवाएष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम् अन्वयं पुरुषविध-स्तस्य प्राणमेव शिरः, व्यानो दक्षिणः पक्षः, अपान उत्तरः पक्षः, आकाश आत्मा, पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा।" "तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्व्वस्य। तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयादन्योऽन्तर

आत्मा मनोमयस्तेनैष पूर्णः सवाएष पुरुषविध एव, तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः, तस्य यजुरेव शिरः, ऋग्दक्षिणः पक्षः, सामोत्तर पक्षः, आदेश आत्मा, अथ सर्व्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तस्यैव एव शारीर आत्मा यः पूर्व्वस्य। तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयस्तेनैष पूर्णः। सवाएष पुरुषविध एव तस्य श्रद्धैव शिरः, ऋतं दक्षिणः पक्षः, सत्यमुत्तरः पक्षः, योग आत्मा, महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तस्यैषएव शारीर आत्मा यः पूर्व्वस्य। तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयस्तेनैष पूर्णः। सवाएष पुरुषविध एव तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधस्तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इति। [तैः उः २। १। १]

अयमर्थः – 'सवा'शब्दः प्रसिद्धौ निश्चये वा। एष मृज्जलाग्निपिण्डलक्षणः पुरुषः अन्नरसमयः अन्नरसप्राचुर्य्यवान्। यद्वा, अन्नरसो नामान्नविकारस्तेन त्वगादिरूपः सर्व्वोऽपि तद्विकारो गृह्यते।

ततश्च जलविकारादिभिरीषन्मिश्रत्वात्तत्प्रचुरः कैवल्याभावेनांशस्यैवान्नरसविकारत्वे सति अंशिनस्तद्विकारत्वविवक्षानर्हत्वात् प्राणमयादावपि शुद्धवायुविग्रहादीनां रूपान्तरप्राप्त्यदर्शनात् पृथिव्यभिमानिदेवतादिलक्षणतत् पुच्छादीनां तद्विकारत्वाभावात्, "विकारशब्दात्" [ब्रह्मसू १। १। १३] इत्यादौ सूत्रकाराणामस्वारस्यात्, "नद्वयश्छन्दसि" इति निषेधाच्च नतु तद्विकार इति। इदं प्रसिद्धं शिर एव शिरः नतूत्तरोत्तरत्रैवात्रापि कल्पनामयम्।

एवं पक्षादिष्वपि व्याख्येयम्। "पक्षो वाहुः। उत्तरो वामः। मध्यमदेहभाग आत्माङ्गानाम्। "मध्यं ह्येषामात्मा"इति श्रुतेः।

इदमपि नाभेरधस्तात् यदङ्गं तत् पुच्छमिव पुच्छम् अधोलम्बनसाम्यात् । तदेव च प्रकर्षेण तिष्ठत्यस्यामिति प्रतिष्ठा आश्रयः । शाखाचन्द्रदर्शनवदन्तरतमत्व-ज्ञानार्थं लोकप्रसिद्धमात्मानमनूद्य तस्यान्तरमन्तरात्मानं शास्त्रप्रसिद्धसाधनादिक्रमेण प्रवेशयन् प्राणमयादीनप्याह तत्र मनसो धारणार्थं तदाधारः प्राणो धार्य्य इति ।

प्रथमं प्राणमयमाह—तस्मादिति । अन्तरस्तदपगमादन्नरसमयस्य दृतेः एषोऽन्नरसमयस्तेन पूर्णो वायुनेव दृतिः स च पुरुषविधः पुरुषाकारः । कथं तस्य पूर्व्वस्यान्नरसमयस्य पुरुषविधतामेव लक्षीकृत्य विशेषं बोधयितुमयमपि रूपककल्पितैः शिरःपक्ष्यादिभिः पुरुषाकार एव वर्ण्यते इति ।

तदेव रूपकं दर्शयति—तस्य प्राणमयस्य प्राणं हृदिस्थो वायुरेव प्रथमधार्य्यत्वेन शिरः कल्प्यते एवं साधनक्रमेणैव दक्षिणपक्षत्वादिक्रमो ज्ञेयः । आकाशः आकाशस्थवृत्तिविशेषः समानाख्यः, प्राणवृत्त्यधिकारात् । मध्यस्थत्वादितरा पर्य्यन्तवृत्तीरपेक्ष्यात्मा पृथिवी तदभिमानिनी देवता आध्यात्मिकस्य प्राणस्य धारयित्री स्थितिहेतुत्वात् "सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्य"इति [प्रश्नउः ३ । ८] श्रुत्यन्तरात् ।

"तस्य प्राणमयस्य एष—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यत्रोपक्रान्त एवात्मा शारीर आत्मा तद्रूपशरीरान्तर्य्यामी । कथम्भूतः ? यः पूर्व्वस्य अन्नमयस्यापि शारीर आत्मा । एवं "यः पूर्व्वस्य प्राणमयस्य" इत्यादिकमुत्तरत्रापि योज्यम् ।"

"यस्य पृथिवी शरीरं, यस्यापः शरीरं, यस्य तेजः शरीरं, यस्य वायुः शरीरम्" [बृः आः ३ । ७ । ६] इत्याद्यन्तर्य्यामिश्रुतेः ।

यत्त्वानन्दमयान्तेऽपि तस्यैष एव शारीर आत्मेति श्रूयते तत्तु तस्यौपचारिकभेदनिर्द्देशेनानन्यात्मत्वमेव बोधयति। नात्मान्तरं विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मेतिवदन्याप्रस्तावात्। प्राणमयान्तोक्ते यः पूर्व्वस्येत्यत्रान्यैरपि तथाभ्युपगमात। ततश्च एष पूर्व्वोक्त आनन्दमयतात्पर्य्यविसानविवेक आत्मैव तस्य "शारीर आत्मा" इति योज्यम्। एवं प्राणधारणया मनोवशं कृत्य तच्च मनो वैदिकनिष्कामकर्म्मात्मकतया धारणीयमित्याशयेन मनोमयमाह—मनः सङ्कल्पाद्यात्मकमन्तःकरणम्। यजुरिति "अनियताक्षरपादविशेषो मन्त्रविशेषः"। तज्जातिवचनोऽपि यजुः—शब्दः। तस्य शिरस्त्वं प्राथम्यात् यजुषा हि हविर्दीयते एवं ऋक्सामयोरपि वैशिष्ट्यं ज्ञेयम्। आदेशोऽत्र ब्राह्मणं आदेष्टव्यविशेषान्निर्दिशति अस्यात्मत्वं प्रवर्त्तकत्वात्।

अथर्व्वणा अङ्गिरसा दृष्टामन्त्रा ब्राह्मणञ्च शान्त्यादिप्रतिष्ठाहेतुकर्म्मप्रधानत्वात् पुच्छं प्रतिष्ठा। मनोमयत्वं चैषां मनोवृत्त्याविर्भावत्वेन तत्प्राचुर्य्यात्। तद्विकारत्वे तु पौरुषेयत्वापातः स्यात्।

अत्र पारमार्थिकपथस्यैव प्रकृतत्वात् व्यावहारिकसङ्कल्पाद्यात्मकमनोमयत्वं न प्रयुज्यते। प्राणधारणायाः पूर्व्वमेव हि त्यक्तं तत्। एवमुत्तरत्रापि।

तथैव विज्ञानमयमाह-श्रद्धा, अध्यात्मशास्त्रे याथार्थ्यप्रतीतिः। ऋतं—शास्त्रार्थनिश्चिता वुद्धिः। सत्यं—तदर्थानुभवप्रयत्नः। योगोयुक्तिः। समाधानम्—आत्मा,—श्रद्धादीनामेतत् साक्षात्काराङ्गत्वात्। महः—तत्तत्सर्व्वप्रकाशहेतुत्वेनोत्तमतरं शुद्धजीवरूपं यस्यैव प्रसिद्धेन विज्ञानात्मत्वेनास्य विज्ञानमयत्वमुच्यते।

"यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरोऽयं यस्य विज्ञानं शरीरम्"इति [वृः आः ५।७।२] जीवान्तर्य्यामिप्रतिपादकश्रुतेः।

अत्र स्थानएव "य आत्मनि तिष्ठन्" इत्यादिश्रुत्यन्तरात्-प्रतिष्ठा तेषां सर्व्वेषामाश्रयः।

तदेवं शुद्धजीवपर्य्यन्तमुक्त्वा तथा तथा लब्धान्तराणां पुनः सर्व्वान्तरतमत्वेन तत्रैव पूर्व्वोपक्रान्तमुख्यात्मत्वं पर्य्यवसाययन्-आनन्दमयमुपदिशति । एवं पूर्व्वपूर्व्वं शास्त्रीयपरमार्थ-प्रक्रियैव लब्धा; न तु व्यवहारिकी। ततो नेष्टपुत्रदर्शनजानन्दादिकं प्रियादिशब्दैर्व्याख्येयम्—किन्त्वेकस्यैव परमानन्दस्य ब्रह्मण उत्तरोत्तरो दयोत्कर्षतारतम्यात् तत्तन्नामभेदः। आनन्दस्य सामान्यत्वेन प्रियादिषु प्राप्त्यपेक्षया अत्मत्वरूपकं ब्रह्मणस्तु सर्व्वोत्तरोदितत्वेन पुच्छत्वरूपकमिति।

तदेव च सर्व्वोत्कृष्टत्वात् प्रियादिलक्षणस्वप्रकाशविशेषाणामन्नमयादीनामप्याश्रयः। एतदेव प्रियादिस्वप्रकाशविशेषवच्चेति-एतदप्युपलक्षणम्--तत्तदशेष—शक्तिविशेषवच्चेत् तद्ध्यानन्दमय आत्मेत्युच्यते । सोऽखण्डोऽपि परब्रह्मैव तदुक्तमानन्दमयोऽभ्यासादिति।

ततस्तस्य तु तत्तद्विशेषवत्त्वे परमाखण्डत्वमिति "ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहम्" [श्रीगीता १४। २७] इत्येतद्गीतार्थोऽपि श्रुति-हृदयगत एव बोद्धव्यः।

अथ श्रीभगवतः पूर्णतत्त्वाकारत्वनिर्द्धारणप्रकरणे शततमाद्वाक्यात् पूर्व्वत्र मोक्षधर्म्मवचनानन्तरं श्रीमध्वभाष्यादेव तदाहार्य्याणि—यथा प्रथमसूत्रेः—

"यमन्तः समुद्रे कवयो वयन्ति यदक्षरे परमे प्रजाः।
यतः प्रसूता जगतः प्रसूती तोयेन जीवान् व्यससर्ज्ज भूम्याम्"॥

इत्यारभ्य "तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्" इत्यन्ता श्रुतः। तथा—

"यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिन्तं सुमेधाम्"
ऋक्सं १० म १२५ सूः ५]

इत्युक्त्वा "मम योनिरपस्वन्तः" इति शक्तिवचनात्मकश्रुतिः।

"अन्तस्तद्धर्म्मोपदेशात्" [ब्रह्म सूः १। १। २०] इत्यत्र च तद्भाष्यम् अन्तः श्रूयमाणो विष्णुरेव।

"अन्तः समुद्रे मनसा चरन्तं ब्रह्मान्वविन्दद्दशहोतारमर्णे।
समुद्रेऽन्तः कवयोविचक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः"।
"यस्याण्डकोशं शुष्यऽमाहुः" इत्यादि तद्धर्म्मोपदेशात्।
स हि प्रलयसमुद्रशायी तस्य वीर्यऽमण्डकोशः।
"सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्व्विबिधाः प्रजाः।
अपएव ससर्ज्जादौ तासु बीजमबासृजत्॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्व्वलोकपितामहः॥
आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
अयनं तस्य ताः पूर्ब्बं तेन नारायणः स्मृतः"॥
[मनु १। ८—१०] इति व्यासस्मृतेरिति।

अथ "सर्व्वैश्च वेदैः परमोहि देवो जिज्ञास्यः" इति।

प्रकरणान्तरमष्टोत्तरशततमाद्वाक्यात् पूर्व्वत्र श्रीभगवति सर्व्वशास्त्रसमन्वय एवं विवेचनीयः—यथा, वेदो द्विविधः—मन्त्रो ब्राह्मणञ्च। मन्त्रोऽपि द्विविधः—भगवन्निष्ठो देवतान्तरनिष्ठश्च। तत्राद्यस्य साक्षादेव तत्परता,—द्वितीयस्तु कर्म्मोपासनयोरङ्ग-मिति—तद्द्वारैव गतिं भजति।

अथ ब्राह्मणस्य,—कर्म्मोपासितज्ञानकाण्डात्मकास्त्रयो भेदाः। तत्र कर्म्मणो जड़त्वेनास्वातन्त्र्यात् स एव फलदातेति तत्काण्डस्य तत्परत्वमेव। उपास्तिरत्र देवतान्तरनिष्ठैव गृह्यते, भगवन्निष्ठा-यास्तु ज्ञानान्तर्भावात्। ततश्चोपासनाकाण्डस्य अन्यासां देव-तानां तदीयत्वेन तत्परत्वम्। ज्ञानकाण्डं,—ब्रह्म-भगवत्-प्रति-पादकत्वेन द्विविधम्—उभयोरपि चिदेकरसत्वात्। ज्ञानशब्देनात्र

ज्ञानं भक्तिश्चोच्यते। ज्ञाने ज्ञानशब्दस्य प्राधान्यतो वृत्तिः धार्त्तराष्ट्रेषु 'कौरव'शब्दवत्। तत्र द्वितीयं,—साक्षादेव भगवत्परम्। प्रथमं तदीयसामान्याकारेण स्वरूपनिरूपकत्वात्तत्परम्।

अथ वेदनिर्व्विशेषाणि तदङ्गान्यपि श्रीभगवदुपासनसाधनत्वात्तत्र समन्वयन्ते। यथा श्रीविष्णुसूक्तादीनां करस्वरादेर्ज्ञानाय शिक्षा; आनुपूर्व्व्याः कल्पः; साधुत्वस्य—व्याकरणम्; पदार्थस्य—निरुक्तम्; श्रीविष्णोर्महोत्सवादिसमयस्य ज्योतिः; मन्त्राणां छन्दः।

अथ वेदानुगाण्यपराण्यपि शास्त्राणि वक्ष्यमाणहेतोः समन्वयन्ते,—तत्र पूर्व्वोत्तरमीमांसे कर्म्म-ज्ञान-काण्डयोस्तात्पर्य्यावधृतेः; गोतमकणादकपिल-न्यायाः-ईश्वरास्तित्वचिदचिद्वस्त्वादीनामूहनात्; पतञ्जलिन्यायस्त्वीश्वरोपासनोद्देशात्; स्मृत्यादीन्यपराणि तु काण्डत्रयमनुगच्छन्तीति पूर्व्वयुक्तेरेव; काव्यालङ्कारकामतन्त्रगान्धर्व्वकलास्तु तस्य तच्चरितमाधुर्य्यानुभव-वैदुष्यसिद्धेः; नीतिः शिल्पञ्च,—तत्सेवाचातुरीसिद्धेः; आयुर्व्वेदधनुर्व्विद्ये,—तदुपासनप्रतिबन्धनिराकरणतः। इत्थमभिप्रेत्यैवोक्तम् श्रीमत्प्रह्लादेन—

"धर्म्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग
ईक्षा त्रयी नयदमौ विविधा च वार्त्ता।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं
स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः॥" इति॥

[श्रीभाग ७। ६। २६]

अथ नवोत्तरशततमाङ्कमारभ्य "ब्रह्मन्"इत्यादिप्रकरणे विशेषः कश्चिद्दृश्यते—ब्रह्मचेदवचनीयं भवति तद्ब्रह्म वचनीयपदेनोच्यते इति वाच्यत्वमेवायाति। तेनापि लक्ष्यते चेद्वस्तुतस्त—

द्वल्लक्ष्यं, लक्ष्यगङ्गाशब्दवत्तस्याप्यबचनीयत्वाभावे बचनीयत्वमेव सिद्ध्यति।

बचनीयत्वाबचनीयत्वाभावे तु अनिर्व्वचनीयत्वापातः। स च मिथ्या इति "घट्टकुट्यां प्रभातम्"। एवं लक्ष्यशब्देनोच्यते चेद्वचनीयत्वसिद्धिः।

लक्ष्यते चेल्लक्ष्यत्व-च्युतिः गङ्गाशब्दलक्ष्यस्यालक्ष्यत्ववल्लक्ष्यशब्दलक्ष्यस्यालक्ष्यत्वात्।

द्वितीयलक्ष्यशब्देन तस्य लक्ष्यत्वमिति चेदनवस्थायामपि लक्ष्यपदबाच्यत्वानतिक्रमएव स्यात्। एवं निर्व्विशेषस्वप्रकाश–परमार्थसदित्यादि शब्दैर्ब्रह्मोच्यते चेद्वाच्यत्वसिद्धिः। न च तैरपि लक्ष्यते—तत्तच्छब्दमुख्यार्थस्यान्यस्याभावात्। निर्व्विशेषादिशब्दानां बिशेषाभावविशिष्टं वा तदुपलक्षितं वा ब्रह्म चेत् तत्तच्छब्दबाच्यत्वं दुर्निबारम्।

किञ्च,—निर्गुणस्वप्रकाशादेरब्रह्मत्वे यद्यद्ब्रह्मतयेष्टं तत्तदर्थो ब्रह्मेति साधुसमर्थितो ब्रह्मवादः।

तथा तन्मते स्फुटमशब्दमित्यादिशब्दबाच्यत्वस्य "यतोबाचः" [तैः उः २।४।१] इत्यत्रापि यच्छब्दबाच्यत्वस्य निषेधेन स्वव्याघातपातः स्यात्। "अथ कस्मादुच्यते ब्रह्म" इति तस्मादुच्यते "परं ब्रह्म" [अथर्व्व शिरः ४४] इति श्रुत्या "परमात्मेति चाप्युक्तः" [गीता १३।२२] इति "वचसां वाच्यमुत्तमम्" इति श्रीगीतादिना च 'बाच्यत्वं साक्षादेवोच्यते। अत्रानुमानानि च:,—वेदान्ततात्पर्य्यबिषयो ब्रह्म बाच्यम,—वस्तुत्वाल्लक्ष्यत्वाच्च घटबत्। परमार्थसदादिपदं कस्यचिद्वाचकं पदत्वात् घटपदबत्। सत्यज्ञानादिबाक्यं बाच्यार्थवत् वाक्यत्वादग्निहोत्रादिबाक्यबदिति।

बिपक्षे लक्ष्यत्वं न स्यात्—तथाहि— लाक्षणिकशब्दो न स्वत

एवार्थगोचरधीहेतु; तत्रागृहीतशक्तित्वात् । किन्तु पूर्व्वधीर्म्थे बाच्यार्थेऽनुपपत्तिदर्शने सति तत्त्यागेन स्वरूपतो बाच्यार्थ-सम्बन्धित्वेन चावगतस्यार्थान्तरस्य बोधकः; गङ्गाशब्दादौ तथा-दर्शनात् अन्यथातिप्रसङ्गात् ।

तथाच—ब्रह्मणो लक्ष्यताबाच्यार्थसम्बन्धित्वेन ज्ञेयत्वादौ प्रतिषेधश्रुत्या वेदैकगम्यस्य शब्देनाज्ञेयत्वात्—स्वप्रकाशतया नित्यसिद्धौ च शब्दवैयर्थ्यादबाच्यत्वेन शब्दस्य लक्षकस्यैव बक्तव्यत्वात् । तथापि बाच्यसम्बन्धित्वेन ज्ञेयत्वेन चानवस्थेति कथमबचनीये लक्षणा इति ।

इति श्रीभागवतसन्दर्भस्यानुव्याख्यायां सर्व्वसम्बादिन्यां भगवत्सन्दर्भो नाम द्वितीयः सन्दर्भः ॥ २ ॥

अथ परमात्मसन्दर्भस्यानुव्याख्या

तत्र जीव-प्रकरणे एकविंशतिबाक्यस्य अनन्तरं "ज्ञान-मात्रात्मको न च" इत्यस्य व्याख्यायां युक्तिश्च दृश्यते । निर्व्विशे-षबादिन एवं मन्यन्ते-देहादाबात्मशब्दप्रत्ययौ न गौणौ, गौण्या हि सबिशेषबस्तूपजीव्यत्वम् । यथा "सिंहो देबदत्तः" इत्यत्र शौर्य्यादिबिशेषबान् सिंहः । तस्माद्बिशेषगन्धरहितस्यात्मनो-भ्रान्त्यैव तच्छब्दप्रत्ययाबिति ।

तदेवं सति वयं ब्रूमः,—निर्व्विकल्पप्रत्यये भ्रमाभाबाद्भ्रान्ति-रपि सबिशेषे एव प्रबर्त्तते ।

यथा शौक्ल्यादिसमानबिशेषाणि शुक्तिरजतादौ, नीलं नभ इत्यादौ च सूर्य्याद्यंशो नभसश्च दृष्टयाद्यवकाशप्रद-सूक्ष्म-बितत-समा-

नदेशस्थिताकारत्वलक्षणेनैकेन बिशेषेण जाताद्भ्रमांशादेव नभ इति प्रतीतिर्जायते ततस्तदीयनीलादिप्रतिभासोऽपि नभस्येवारोप्यत इति सविशेषत्वोपजीविन्येव भ्रान्तिरिति तस्मात् "न ज्ञानमात्रमात्मा" इति ।

किञ्च,—उपलब्धिह्यनुभूतिः । "अनुभूतित्वञ्च नाम वर्त्तमानदशायां स्वसत्तयैव स्वाश्रयं प्रति प्रकाशमानत्वम्वा भवतु, स्वसत्तयैव स्वविषयसाधनत्वं वा भवतु" [श्रीभाष्यम् वें कों ३१ पृः १-२ पं] तत्रोभयथैव तन्मात्रवादिमतेऽपि शक्तिमत्त्वापातः ।

तथा "विषय-प्रकाशनतयैवोपलब्धेरेव हि सम्विदः स्वयं प्रकाशता साधिता । सम्विदो बिषय-प्रकाशनतया स्वभावविरहे सति स्वयं प्रकाशत्वासिद्धेरनुभवान्तरानुभाव्यत्वाच्च तुच्छतैव स्यात्" [श्रीभाष्यम् वें कों पृः ३२ पं २०-२२]

स्वापमूर्च्छादिषु "सुखमहमस्वाप्सम्" इत्याद्यनुभवेन सशक्तित्वमेव साधयिष्यामः—

"यदपि,—नास्या दृशेर्दशिरूपाया दृश्यः कश्चिदपि धर्म्मोऽस्ति; दृश्यत्वादेव तेषां न दृशि-धर्म्मत्वमिति तर्क्यते, तदपि स्वाभ्युपगतैः प्रमाणसिद्धैर्नित्यत्वस्वयम्प्रकाशत्वादिधर्म्मैरनैकान्तिकम्" [श्रीभाष्यम वें कों १ ख पृः ३४ पं ८-१५] ।

"तेषामनित्यत्वजड़त्वाभावतात्पर्य्यत्वेऽपि तथाभूतैरपि चैतन्यधर्म्मभूतैस्तैरनैकान्त्यमपरिहार्य्यम । सम्विदि तु स्वरूपातिरेकेण जड़त्वादिप्रत्यनीकत्वमित्यभावरूपो भावरूपो बा धर्म्मो नाभ्युपेतश्चेत् तत्तन्निषेधोक्त्या किमपि नोक्तं स्यात् ।" [तत्रैव श्रीभाष्ये]

किञ्च सम्वित् सिद्ध्यति वा न बा ? सिद्ध्यतीति चेत, आयाता सधर्म्मतास्याः, नोचेत्त्वा च्छतापत्तिर्गगनकुसुमादिवत् ।

सिद्धिरेव सम्विदिति चेत् कस्य कं प्रतीति वक्तव्यम् । यदि न कस्यचित् कञ्चित् प्रति सा तर्हि न सिद्धिः । सिद्धिर्हि पुत्रत्वमिव कस्यचित् कञ्चित् प्रति भवति ।

आत्मन इति चेत् कोऽयमात्मा [श्रीभाः वें कों पृः ३४ पं १४-१४] ननु सम्विदेवेत्युक्तमिति चेत्त सम्वित्-सिद्ध्यार्भेदावगमात् सा सम्वित् तदीया शक्तिरेवेत्यवसीयते, नतु स्वरूपमिति । तदेवमायाता ज्ञानमात्रस्वरूपेऽपि स्वभावसिद्धा ज्ञातृत्व-नित्यत्वादि-धर्म्मवत्ता । "पराभिधानात्" [ब्रह्म सूः ३ । २ । ५] इत्येतत् सूत्रं शङ्करमतेऽपि तस्य शक्तिमत्त्वं साधयति ।

तत्त पुनरीश्वरसमानकधर्म्मत्वादिकमग्रे लेख्यम् ।

अथ पञ्चविंशतितमवाक्यव्याख्यान्तमारभ्य सप्तत्रिंशवाक्यावधिग्रन्थानुव्याख्या—स्वस्मै स्वयं प्रकाशत्वे सिद्धे "ज्ञानमात्रात्मको न च" [जामातृमुनिबचनम्] इति स्पष्टम् । अत्र बिज्ञानमयप्रकरणे सुषुप्तिमधिकृत्य श्रुतिर्भवति-"असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति" [बृः आः ४ । ३ । ११] "अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति" [बृः आः ४ । ३ । ९] "नहि बिज्ञातुर्व्विज्ञातेर्व्विपरिलोपो बिद्यते" [बृः आः ४ । ३ । ३०] इत्याद्या ।

"एकरूपस्वरूपभाक्" [पाद्मोत्तारखण्डे जामातृमुनिबचनम् । इत्यत्र श्रुतिश्च—

"स यथा सैन्धवघनोऽन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव । एवं वा अरे अयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव बिज्ञानघन एव" [बृः आः ६ । ५ । १३] इति

अयमर्थः - केवलस्य सुखस्यात्मत्वं परिहृतम् । ज्ञानमात्रत्वेऽपि ज्ञातृत्वं चात्मनः पूर्वं साधितम् । तच्चाहम्भावं विना न सिद्ध्यतीति पूर्व्वसिद्ध एवासावनूद्यते स्पष्टतार्थम् । "अहम्प्रत्यय-

सिद्धोऽस्मदर्थः। युष्मत्प्रत्ययविषयो युष्मदर्थः। तत्राहं जानामीति सिद्धो ज्ञाता युष्मदर्थ इतिवचनं जननी मे वन्ध्येतिवत् व्याहतार्थम्।" [श्रीभाः वेः कोः १ म खं पृः ३६ पं २१। २२]

किञ्च स्वस्मै स्वयम्प्रकाश एव जड़त्वादात्मेति प्रतिपादितम्। केवलं ज्ञानं सुखं चान्यस्यैवाहमर्थस्य ज्ञातुरवभासते। "अहं जानामि अहं सुखीति। तस्मात्, स्वात्मानं प्रति स्वसत्तयैव सिद्ध्यन्नजड़ोऽहमर्थ एवात्मा।"—[श्रीभाष्यम् वेः कोः १ खं पृः ३८। पं १९। २०]

तदेवमहमर्थरूपे निरुपाधिप्रिये तस्मिन् ज्ञाने यत्तु जानाम्यहमिति पृथग्ज्ञानं प्रतीयते तदहमर्थं प्रभेव दीपं विशिनष्टि। ज्ञानमात्र आत्मन्यहमर्थोऽध्यस्यत इति तु न युज्यते, अध्यासकाभावात्।

अनहङ्कारस्य ज्ञानमात्रस्य जड़स्य चाहङ्कारस्य तत्कर्त्तृत्वं न सम्भवतीति। न च तस्मिन्नहङ्कारे ज्ञानच्छायापत्तिः—उभयोरपि अचाक्षुषत्वात्। नचायः—पिण्डे वह्निसम्पर्ककृतौष्ण्यवत् ज्ञानमात्रसम्पर्ककृतज्ञातृत्वं तस्मिन्नहङ्कारे मन्तव्यम्, औष्ण्यवत्तद्धर्म्मासम्प्रतिपत्तेः।

नन्वसावहङ्कारः स्वात्मानुस्यूततज्ज्ञानमभिव्यञ्जयन् ज्ञातृभावमापद्यत इति चेत् तदप्ययुक्तम्। अहङ्कारादिधर्म्मिगणस्तस्य धर्म्मत्वानुपपत्तेः, स्वयं ज्योतिष आत्मनो व्यङ्ग्यत्वायोगात्। व्यङ्ग्यत्वे च भवतामननुभूतित्वप्रसङ्गात्। तदायत्तप्रकाशेनाहङ्कारेण तस्य प्रकाश्यत्वासम्भवात्। न च रविकराभिव्यङ्ग्येन हस्तेन च रविकरा अभिव्यज्यन्ते। हस्तप्रतिहतगतयो हि ते बाहुल्यात् स्वयमेव स्फुटतरमुपलभ्यन्ते। तस्मात् स्वत एव ज्ञातृतया सिद्ध्यन्नहमर्थ एव प्रत्यगात्मा न ज्ञप्तिमात्रम्।

एवं "सुखमहमस्वाप्सम्" इति सुषुप्त्यनन्तरं परामर्शात्—

तत्राप्यहमर्थता सुखिता ज्ञातृता च गम्यते। तदानीं तमोगुणाभिभवात् न स्फुटोऽवबोधः। "एतावन्तं कालं नाहमज्ञासिषम्" इति तु पराग्विषयः प्रतिषेधः, अज्ञान-साक्षिणोऽहमर्थस्यानुवृत्तेः।

"मामहं न ज्ञातवान्"इति परामर्शे च तदानीमेकोऽहमंशः स्वाज्ञानविषयत्वेन प्रतीयते। अन्यस्तु तत्साक्षित्वेन। ततः पूर्व्वं परामर्शकोटिप्रविष्टं महत्तत्त्वजदेहोऽहमित्युपाध्यभिमानिनमहमंशं सुषुप्तौ निलीनं तदानीमनुभवसिद्धस्ततः परोऽहमंशः शुद्धात्मा न ज्ञातवानित्येवं तत्र विवेकः।

जाग्रदाद्यवस्थयोस्तद्युगलस्याविवेकश्च परस्परतादात्म्यापत्त्यपेक्षया।

ततः पराग्रूपस्यैवाहङ्कारस्य क्षेत्रान्तःपातः। "अस्यैवाहङ्कारस्याभूततद्भावेष्वर्थेषु च्विप्रत्ययमुत्पाद्य व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या।"

तस्मादहमर्थस्तदन्यस्तदा साक्षित्वेनावतिष्ठत एव। तथैव "सुषुप्तावात्मा तत्राऽज्ञानसाक्षित्वेनास्ते इति भवदीया प्रक्रिया। साक्षित्वञ्च साक्षाज्ज्ञातृत्वमेव। तथाच भगवान् पाणिनिः-- "साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्" [अष्टा ५। २। ९१ सूत्रम्] इति। स चायं साक्षी जानामीति प्रतीयमानोऽस्मदर्थ एवेति कुतस्तदानीमहमर्थो न प्रतीयेत।" [श्रीभाष्य वें॰ को॰ १ ख॰ ४५ पृ:]

मोक्षदशायामप्यहमर्थो नानुवर्त्तते इति चेत् अस्मच्छब्दाभिधेयस्यात्मनो नाशभयात्। तदा या काचित् सम्बिदसुवत्स्यति तत्रापि आत्मत्वेनाभिमानाभावादपसर्पेदेवासौ मोक्षप्रस्तावादिति मोक्षशास्त्रवैयर्थ्यं स्यात्।

किञ्च "स च प्रत्यगात्मा मुक्तावप्यहमित्येव प्रकाशते स्वस्मै प्रकाशमानत्वात्। यो यः स्वस्मै प्रकाशते स सर्व्वोऽहमित्येव प्रकाशते, यथा तथावभासमानत्वेनोभयवादिसम्मतः संसार्य्यात्मा। यः पुनरहमिति न चकास्ति; नासौ स्वस्मै प्रकाशते यथा

घटोदिः"। [श्रीभाष्य वे' को' १ ख' ४६ पृः]

ततो देहादिव्यतिरिक्तोऽहमेवात्मनः स्वरूपमिति तथाज्ञानं नाज्ञत्वमुत्पादयति। अपि तु देहाद्यहम्भावविरोधित्वान्मोचयत्येव। अतएव लब्धविज्ञानानामप्यहम्भावः श्रूयते। "तद्धै तत् पश्यन्नृषि र्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्य्यश्चेति" [वृः आः उ, ३। ४। १०] "अहमेव प्रथममासं वर्त्तामि भविष्यामीति" [अथर्व्व शिर ६ खण्ड]।

किञ्च "सकलेतराज्ञानविरोधिनः सच्छब्दप्रत्ययमात्रभाजः परब्रह्मणो व्यवहारोऽप्येवमेव। यथा "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः" [छाः ६ प्र ३ ख २] "बहुस्यां प्रजायेय" [तैः आरण्यक ६ अनु २] "स ऐक्षत लोकानसृजा" [ऐतरेय १ ख १] इति। "यस्मात् क्षरमतीतोऽहम्" [गीता १० । १८] इत्यादि च बहुतरम्। तस्मादहमर्थ एवात्मा प्रतिक्षेत्रं भिन्न इति।

तत्रान्ये प्रतिक्षेत्रमभेदं द्विधा वर्णयन्ति—उपाधिपार्थक्यात् व्यवहारे पृथगभिमानिनोऽपि तत्तादुपाधेः कल्पितत्वाद्वस्तुतस्त्वभिन्ना एवेति केचित् व्यवहारेप्येक एव जीवाभिमानी स्वप्नवत् तत्, कल्पितास्तदभिमानशून्यास्त्वपर इति केचित्।

तत्रोभयमपि मूलाज्ञानाश्रयनिरूपणासामर्थ्यादेव निरस्तमस्ति। तथा परिच्छेदाभासप्रतिबिम्बवादेषु संशयस्य दर्शयिष्यमाणत्वान्न प्रागुक्तमपि मतं वुद्धिगोचरम्। "एको देवः" [श्वेताश्व ६ । ११] इत्यादिकन्तु परमात्मपरम्।

अस्यैकत्वविशेषणेन जीवस्य तु बाहुल्यं सूच्यते। एवमन्यत्रापि विवेचनीयम्। अग्रे तु जीवपरमात्मनोरेकस्वरूपत्वे निषिद्धे स्वयमेवाभेदः पराहन्यते।

अथैकजीववादे तु तन्मतगुरूणां "त्वमेव स एकोजीवः" परे तु जीवेश्वररूपाविकल्पास्त्वत्कल्पिताः स्थाणुपुरुषकल्पाः" इति

सर्व्वं प्रत्येव वदतां वञ्चनाकारित्वमेव लक्ष्यते—स्वस्य चेतनाभिमानमत्त्रोपलब्धेरन्योऽपि तथाविधो भवेदिति सम्भवप्रमाणसिद्धञ्च जीवान्तरम्। तथा अन्यत्रापि प्राणिनि स्ववत्ताद्धर्म्मोपलब्धेरनुमानसिद्धञ्च।

बाणकन्यादावनिरुद्धादिवत् स्वप्नादृष्टानामपि काल्पनिकत्वव्यभिचारात् तद्दृष्टानाम सर्व्वेषामेवाकाल्पनिकत्वेन स्थापयिष्यमाणत्वात् "वैधर्म्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" [ब्रह्म सूः २।२।२६] इति न्यायाच्च दृष्टान्तवैकल्यञ्च,—तथा सहस्रधा पृथक् पृथक् सुखदुःखाभिमानिजीवान्त्यप्रतिपादकश्रुतिपुराणागमस्मृतिप्रभृतिशास्त्र-सहस्रकदर्थना च।

तच्च शास्त्रम्—"ये वैके चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्व्वे गच्छन्ति" [कौष उः १।२] इत्यादि। एवमनाद्यविद्यायुक्तस्य जीवस्य स्वतो ज्ञानोत्पत्त्यसम्भवात्। स्वतर्काप्रतिष्ठानात् वेदगुरूपदेशयोश्च तदज्ञानमात्रकल्पितत्वेन स्वतर्कवचनान्तरे च पर्य्यवसानादनिर्म्मोक्षप्रसङ्गश्च जायत इति। तस्मात् प्रतिक्षेत्रं भिन्न एव जीवः। तथैव सयुक्तिकं श्रीभगवद्वाक्यम्—

"अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम्।
स्वतो न सम्भवेदन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत्॥"

इति [श्रीभाग ११।२२।१०]

"नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ" [कठ उः २।६] इति श्रुतेः।

अणुरिति अतःस्वयं निरवयव एव जीव इति। तच्चाणुत्वम् "उत्क्रान्ति गत्यागतीनां" [ब्रह्म सूः २।३।१९] श्रवणात्तावत् प्रतीयते। "स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैव तैः सर्व्वैरुत्क्रामतीति [कौषीत ३।३] "ये वैके चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्व्वे गच्छन्ति"इति [कौष उः १।२] "तस्मा-

ल्लोकात् पुनरेत्यास्मै लोकाय कर्म्मणे" [बृ: आ: ४ । ४ । ६] इति च श्रुतेः । परिच्छिन्नस्यैव तत्तत्सम्भवे सति देहप्रमाणतायां विकारित्वापत्तेरणुत्व एव पर्य्यवसानात्तदेव व्यक्तम् ।

अत्रोत्क्रान्तिर्व्वा विभुत्वेऽप्यचलतोऽपि ग्रामस्वाम्यनिवृत्ति-रूपा व्याख्यायेत गत्यागती तु स्वात्मनैव सम्भवतः;—गमेः कर्त्तृस्थक्रियात्वात् । अतो गमेर्याथार्थ्ये सति तत्साहचर्य्येण सर्व्वोत्क्रमसाहचर्य्येण चोत्क्रान्तेरपि नान्यथात्वं कल्प्यम् । श्रुतिविरुद्धैव चेयं कल्पना । "चक्षुषो वा मूर्द्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः" [बृ: आ: ४ । ४ । २] इत्यादौ तत्तदङ्गावधिक-विश्लेषनिर्द्देशात् पक्षिवदुत्पतनरूपैवोत्क्रान्तिरित्यापत्तेः । अत एव श्रुत्यादिषु जलूकादृष्टान्तोऽपि घटते ।

ननु "सवा एष महानज आत्मा [बृ: आ: ६ । ४ । २५] योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु" [बृ: आ: ४ । ४ । २२] "आकाश-वत् सर्व्वगतश्च नित्यः" "सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म" [तैः उ: २ । १ । १] इत्यादौ व्याप्तिः श्रूयते । न पूर्व्वत्रारुन्धतीदर्शनवत् जीवमनूद्य ब्रह्मैव निर्द्दिश्यते—परमात्माधिकारात् । अतः सर्व्व-गतत्वमुक्त्वैव सत्यमित्यादि प्रसिद्धपरमात्मलक्षणमुक्तम । मह-च्छब्दस्त्वग्रे व्याख्यातव्यः । अत्र कुत्रचिद्व्याप्तात्मन इति वहुत्व-निर्द्देशादपि जीवा न मन्तव्याः—अत्रापि परमात्माधिकारात् । "स आत्मेदं सृजति" इत्याद्युक्तेः,—वहुत्वान्ताविर्भावास्पद-भेदविवक्षया ।

किञ्च जीवस्य साक्षादणुत्वमपि श्रूयते—

"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा सम्विवेश" [मुण्ड ३ । १ । ६] इति प्राणसम्बन्धोक्तेः ।

उन्मानमपि दृश्यते—

"वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।

भागो जीवः स विज्ञेयः" [श्वेताश्व ५ । ९] इत्यत्र,
"आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः" [श्वेताश्व ५ । ८] इत्यत्र च ।

"नन्वणुत्वे सत्येकदेशस्थस्य सकलदेहोपगतोपलब्धिर्विरुध्यते"? न, हरिचन्दनबिन्दोः सकलदेहाह्लादनवदिहाप्यविरोधात्। नच हरिचन्दनबिन्दोरेकदेशत्वं प्रत्यक्षसिद्धं, नत्वात्मन इति दृष्टान्तवैषम्यम। "हृद्येष आत्मा" [प्रश्न ३ । ६] "सवा एष आत्मा हृदि" (छान्दोः ८ । ३ । ३) "कतम आत्मा" इति । योऽयं विज्ञानमयः—प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" (वृः आः ४ । ३ । ७) इत्याद्युपदेशेभ्यस्तस्यापि तथात्वसिद्धेः। सिद्धायां चाणुतायामित्थमप्यविरोधः । चिद्रूपस्यापि जीवस्य चेतयितृत्वलक्षणचिद्गुणव्याप्तेरणोरपि सतो निखिलदेहव्यापिता स्यात्। लोके दीपादयः प्रकाशाः ह्येकदेशस्था अपि सम्यग् गृहादिकं स्वकीयेन प्रकाशाकारेण गुणेन प्रकाशयन्ति तद्वत्।

नच दीपप्रभा दीपाद्विशीर्णाः परमाणव एव। परम-रक्तादिच्छविदुकूलादीनां महाहीरकादिमणीनाञ्च रक्तादयो गुणा निजपर्य्यन्तभूमिं रञ्जयन्तीति दृश्यते। तत्र गुणगुणिनोः पृथगुपलम्भनात् दुकूलाद्यनाशात् हीरके तु परागच्छरणात्यन्तासम्भवाच्च। सति च परागच्छरणे वायुप्रातिकूल्येन मण्यादिप्रभाया एकस्यां दिशि न विसरणं स्यात् यस्यां तु दिशि तदानुकूल्यं तत्र तु विसरणबाहुल्यं स्यादिति तद्वद्दीपादीनां गुणएव प्रभा भविष्यति । अतएवाद्रव्यत्वाद्दीपादिवदसौ वाय्वादिभिर्न विक्षिप्यते ।

श्रीगीतोपनिषत्स्वपि तथा दृष्टान्तितम्—

"यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत" इति ॥

[गीता १३ । ३३]

एवमेव अणवश्चेति न्यायसिद्धाणुत्वानां मन आदीन्द्रियाणां प्रकाशो व्याततो दृश्यते "मनसा मेरुं गच्छति" इत्यादौ दूर-श्रवण-दर्शनादिसिद्धौ च । श्रुतिश्च "दिवीव चक्षुराततम्" इत्यादिका । तदेवमणवश्चेत्यत्रैव माध्वभाष्योदाहृता शाण्डिल्य-श्रुतिः, तद्यथा,—नह्यणुचक्षुषः प्रकाशो व्याततोऽणुर्ह्येवैष पुरुषः" [माध्वभाष्ये २ । ४ । ८] इति ।

अन्यत्र च गुणो गुणिसमीपदेशं व्याप्नोतीति दृश्यते । यथा पुष्पादौ गन्धः । गन्धस्यापि सहैवाश्रयांशेन विश्लेष इति चेत् ? न मूलद्रव्योन्मानहानिप्रसङ्गात् ।

परमाणूनामेव विश्लेषान्नाल्पकालेन मान-हानिरिति चेत्, तेषामतीन्द्रियत्वेन तद्गुणाग्रहणायोगात् स्फुटगन्धस्तु कस्तूर्य्यादिष्विति । एवं कायव्यूह गन्धदृष्टान्तो ज्ञेयः,—पृथिवी-गन्धस्य पृथिवीव्यतिरिक्ते जलादाविव जीवगुणस्य देहान्तरवृन्देऽपि व्याप्तिः सम्भवति दृष्टान्ते, तद्गन्धस्य नेता वायुर्दार्ष्टान्तिके वीश्वर एवेति,—तथैव माध्वभाष्यप्रमाणिता शाण्डिल्यश्रुतिः—

"अथैक एव सन् गन्धवद्व्यतिरिच्यते तथैकोभवति तथा वह्वीभवति । तं यथेश्वरः प्रकुरुते तथा भवति, सोऽचिन्त्यः परमो गरीयान्" इति । [माध्वभाष्य २ । ३ । २७]

तस्माज्जीवः स्वगुणेनैव व्याप्नोतीति । तथा "हृदयायतनत्व-मणुपरिमाणत्वं चात्मनोऽभिधाय तस्यैव "आलोमेभ्य आनखेभ्य" [छाः उः ८ । ८ । १] इति चेतनागुणेन सर्व्वशरीर-व्यापित्वं दर्शयति । एवं "प्रज्ञया शरीरं समारुह्य" [कौषी ३ । ६] इति चात्मप्रज्ञयोः कर्त्तृकरणभावेन पृथगुपदेशात् गुणेनैवास्य सर्व्वशरीरव्यापित्वं गम्यते" (शाङ्करभाष्य २ । ३ । २७-२८) । अत्र यदि प्रज्ञाशब्दं वुद्धौ वर्त्तयेत् तथापि तस्या अणुत्वाभ्युपगमात् तया शरीरव्याप्तिरशक्या । प्रज्ञारूपेऽपि जीवे

प्रज्ञयेति "भेदव्यपदेशः शिलापुत्रशरीरवत्" (शङ्करभाष्य २। ३। २६) इत्यत्र तु श्रुत्यर्थः क्लिष्टः स्यात्। तदेकमात्रेऽपि—शक्तिस्थापना तु मुहुरेव दर्शिता,—"तस्मादणुरेव जीवः" इति प्रान्ते पुनरेव ते हेतवः प्रत्यवस्थाप्यन्ते।

ननूत्क्रान्तादयो ह्यत्रोपाध्युत्क्रान्तादिभिरेव व्यपदिश्यन्ते न?। उत्क्रमवाक्ये "सहैवैतैः" (कौषीत ३। ३) इति सहशब्दश्रवणात् सहशब्दोहि प्रधानाप्रधानयोः समानामेव क्रियां बोधयति। ततश्च गत्यागती अपि तथैव भवतः। अचलने प्रमाणान्तराभावात् तदुत्क्रान्तिश्रवणादेव च घटाकाशवदवुधदृष्ट्यभिप्रायमिति न च वक्तव्यम्। श्रीगीतोपनिषदस्तु दृष्टान्तविशेषात्, अद्युपादानाच्च तस्यैव चलनाग्रणीत्वं बोधयन्ति।

"शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वेतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥"

(गीता १५। ८) इति।

एवमेव च सूत्रमुपोद्वलयति "तदनन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्" (ब्रह्म सूः ३। १। १) इति प्राणस्तु तद्रथस्थानीयः। यथोक्तं श्रुत्याः–

"कस्मिन्नहमुत्क्रान्ता भविष्यामि कस्मिन् वाहं प्रतिष्ठामि" इति। (प्रश्न उः ६। ३)।

अतः स्वयं तत्र स्थित एव चलति न तु पद्यादिवदङ्गं विक्षेपन्नेव। अतो "लेलायति" (बृः आः ४। ३। ७) इवेति श्रुताविवशब्दप्रयोगः। तथापि तस्यैव तत्राग्रणीत्वं रथिवत्। तच्चोक्तं श्रुत्या—"तमुत्क्रान्तं प्राणोऽनुत्क्रामति प्राणमुत्क्रामन्तं सर्व्वे प्राणा अनुत्क्रामन्ति" (बृः आः उः ४। ४। २) इति।

ननु "एषोऽणुरात्मा" इत्यादौ परमात्मन एव प्रकरणं ततोऽणुत्वञ्च दुर्ज्ञेयत्वेनैव वक्तव्यम्। न प्राणलिङ्गेन प्रकरणबाधात्।

तदुक्तम् – "श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-स्थान-प्रकरणसमाख्यानां पारदौर्व्बल्यमर्थविप्रकर्षात्" (मीमां सू ३ । ४ । २) इति गोपवनश्रुतावपि स्पष्टमेवाहैतत् । "अणुर्ह्येष आत्मायं वा एते सिनीतः पुण्यम" (माध्वभाष्ये २ । ३ । १६ सूः भाष्यधृतम्) इति । ननु "बालाग्रशतभागस्य" (श्वेताश्व ५ । ९) इत्याद्यन्ते "स चानन्त्याय कल्पते" इति श्रवणादौपाधिकमेवाणुत्वं पारमार्थिकं विभुत्वमित्यवगम्यते ? न । आनन्त्यशब्दस्य मोक्षे रूढ़त्वात्,— "अन्तो" मरणं तद्राहित्यमानन्त्यमित्यर्थः । ब्रह्मप्रविष्टस्य तत्तादात्मापत्त्या विश्वद्रीचीनतच्छक्तिस्पर्शाद्वानन्त्य-व्यपदेशः । सालोक्ये तु तदनुग्रहात्तत्स्पर्श इति । तदुक्तं श्रीभगवतोद्धवं प्रति—

"जीवो जीवेन निर्म्मुक्तो गुणैश्चाशयसम्भवैः ।
मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न बहिर्नान्तरं चरेत्" ॥
(श्रीभाग ११ । २५ । ३६) इति ।

श्रुत्यन्तरे तु सूक्ष्मत्वरूपेणोपाधिगुणेन तद्रूपेणैव स्वगुणेन चाणुत्वमुक्तम्—

"बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः"
(श्वेताश्व ६ । ८) इति ।

नन्वणोश्चन्दनदृष्टान्तेन व्यापकता न घटते—चन्दनस्य सूक्ष्मावयव--विसर्पणेन सकलदेह--ह्लादयितृत्वंसम्भवात् । तदयुक्तम्—अदृष्ट-कल्पनापत्तेः । तर्हि कथमिति चेत् ? अचिन्त्योहि मणिमन्त्रमहौषधीनां प्रभाव इति लोकप्रसिद्धिरेव भविष्यति । क्वचिज्जतुर्जटिलमहौषध्यादिद्रव्येण हस्तादिबद्धेनापि तत्तत्प्रभावो दृश्यते । स्पर्शमणिनैकदेशस्पर्शेऽपि लोहलोष्ट्रस्य सुवर्णता च । स्वीकृतश्चैतत् पञ्चमवेदेन—

"अणुमात्रोऽप्ययं जीवः स्वदेहं व्याप्य तिष्ठति ।
यथाव्याप्य शरीराणि हरिचन्द्रनविप्रुषः ॥"
(ब्रह्माण्डपुराणम्) इति ।

अत्र प्रभावातिशय-बोधनायैव हि हरिचन्दनशब्दः प्रयुक्तः।

ननु चेतनागुणव्याप्तिसिद्धान्ते गुणस्य गुणिदेशत्वात् गुणिनमनाश्रितस्य गुणत्वमेव हीयते" (शाङ्कर भाष्य २।३।२६) नागुणस्य तदतिरिक्तव्यापितायां दुकूलादौ दर्शितत्वात्। अतिरिक्तव्यवस्थितस्यापि गुणस्य तमाश्रित्यैवावस्थिति-प्रतिपत्तेः।

अत एव गन्धस्यापि न स्वाश्रयत्वव्यभिचारः। ततएव तत्प्रभावात्। अतएवोक्तं श्रीकृष्णद्वैपायनेन—

"उपलभ्यापसु चेद्गन्धं केचिद्ब्रूयुरनैपुणाः।
पृथिव्यामेव तं विद्यादपो वायुञ्च संश्रितम्॥"
(शां भां धृतम् २।३।२६) इति।

तस्मादणुरेव जीवः, चेतनागुणेन तु स्वशरीरव्यापीति।

अत्राशङ्कते "स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु" (वृः आः ४।४।२२) इत्यत्र महच्छब्दान्न सम्भवत्यणुत्वमिति।

उच्यते—युक्ति-सम्वद्धेनाणुत्वश्रवणेन महच्छब्दस्य विभुतायामप्रसिद्धा वार्थान्तरोपस्थितावणुरप्युत्कर्षगुणेन सारत्वादेव महानिति व्यपदिश्यते महारत्नवत्।

यथैव प्राज्ञः-परमात्मा विभुरपि दुर्ज्ञेयतागुणेनैव अणोरणीयान् काठकेत्युच्यते। तदेवं "तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्" (ब्रह्म सूः २।३।२६) इत्यपि व्याख्यातम्। अपर इदमेव व्याचष्टे—सचेतनालक्षणो यो गुणो महौषध्यादिवदचिन्त्यप्रभावः स एव सारो व्यभिचाररहितो यत्र तथाभूतत्वात् सर्व्वशरीरव्यापितानिर्द्देशः सम्भवति।

यथैव प्राज्ञस्य श्रुतौ अचिन्त्यशक्तित्वं दृश्यते तथैवास्यानुरूपं स्यादिति अस्मिन् व्याख्याने महच्छब्दस्योत्कृष्टता मात्रं वाच्यं स्वयमुह्यम्। हरिचन्दनदृष्टान्तेन तादृगर्थो न सूत्रे तस्मिन्नभिव्यक्त

इति पुनः सूत्रच्छेदमित्यपि ज्ञेयम् ।

किञ्च तेषां जीवगुणानां वह्नेरोष्ण्यादिवत् अनाद्यनन्तकालावस्थाप्यात्मसमानकालमेव वाप्यभवशीलत्वान्न कदाचिद्व्यभिचाराशङ्का । तथाच दर्शयति श्रुतिः—"न हि विज्ञातुर्व्विज्ञातेर्व्विपरिलोपो विद्यते" (वृः आः ४ । ३ । ३०) इत्याद्या । मोक्षे तु तेषामभिव्यक्तिर्ज्जायते, यौवने पुंस्त्रीभावविशेषवत् । तदुक्तं शङ्करशारीरकेऽपि ।

तत्पुनरीश्वरसमानधर्म्मत्वं तिरोहितं सत् परमभिध्यायतस्तिमिरतिरस्कृतेव दृक्शक्तिरौषधिवीर्य्यादीश्वरप्रसादादाविर्भवतीति । श्रुतिश्च—

"ज्ञात्वा देवं सर्व्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
तस्याभिधान्यात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्य्यं केवलमाप्तकामः ॥"
(श्वेताश्व १ । ११) इत्यवमाद्या ।

"बलमानन्दमोजश्च सहज्ञानमनाकुलम् ।
स्वरूपाण्येव जीवस्य व्यज्यते परमाद्विभोः ॥"
(ब्रह्म सू माः भाः २ । ३ । ३१ धृत) इति ।

माध्वभाष्ये दृष्टा गोपवनश्रुतिश्च ।

यदि च तेषां जीवेऽनभिव्यक्त्यभिव्यक्तिव्यवस्था न कार्य्या तदा तेषां नित्यमेव तस्मिन्नुपलब्धिः स्यात् नित्यमेव वा न स्यादिति दोष आपतेत् । अन्येषां प्राकृतानां देहादिवस्तूनां तत्र तत्र प्रवृत्तौ जड़त्वात् प्रतिबन्ध एव वा स्यात् ।

जीवस्वरूप-गुणामनने सति प्रवृत्तिहेत्वभावात् । तस्मात् स्वेन जीवोऽणुः स्वगुणेन तु देहव्यापीति स्थितम् ।

अत्र श्रीरामानुजीयास्तु स्वयमेवं व्याचक्षते—"यथैकमेव तेजोद्रव्यं प्रभाप्रभावाद्रूपेणावतिष्ठते, तथैकमेव चैतन्यं तद्रूपेणातिष्ठते । यद्यपि प्रभा प्रभावद्द्रव्यगुणभूता, तथापि

तेजोद्रव्यमेव न शौक्ल्यादिवद्गुणः। स्वाश्रयादन्यत्रापि वर्त्तमानत्वाद्रूपवत्त्वाच्च शौक्ल्यादिवैधर्म्यात्, प्रकाशवत्त्वाच्च तेजोद्रव्यमेव, नार्थान्तरम्। प्रकाशत्वञ्च,—स्वस्वरूपस्यान्येषां प्रकाशकत्वात्। अस्यास्तु गुणत्वव्यवहारो नित्यतदाश्रयत्वतच्छेषत्वनिबन्धनः। न चाश्रयावयवा एव विशीर्णाः प्रचरन्तः प्रभेत्युच्यन्ते—मणिद्युमणिप्रभृतीनां विनाशप्रसङ्गात्।" [श्रीभाष्यम् वे॑ को॑ १ ख॑ पृः ३७].

"तस्माद् यथा दीपादेरव्यभिचारिप्रभागुणवत्त्वाद् गुणित्वव्यपदेशः तथा जीवस्यापि तादृशत्वं युक्तम्।

अतः स्वयमणोर्जीवस्य तेन गुणेनैव विभुत्वम्। स च चैतन्यगुणः स्वयमविच्छिन्न एव सङ्कोचविकाशाववियाकर्म्मसंज्ञाख्यया शक्त्या भजतीति। अत्राद्वैतवादिनामपि,—परिच्छेदो वा प्रतिविम्बो वा आभासो वा जीवः स्यात्,—त्रिधाप्यविभुरित्येवायाति। तत्र च वुद्धिलक्षणतदुपाधेः सूक्ष्मत्वाङ्गीकारात् सूक्ष्मत्वमपि सूचीरन्ध्राकाशवत्, बालुकाकणप्रतिफलितसूर्य्यतेजोवत, तदाभासवच्च। यत्र यत्रैवोपाधयश्चलन्ति तत्र तत्रैव परिच्छिन्नत्वेनैवोदयन्ते तानीति,--इत्थमेव स्वयं तदाचार्य्येणेन्द्रियाणां विभुत्ववादो दूषितः।

"सर्व्वगतानामपि वृत्तिलाभः शरीरदेशे स्यादिति चेन्न—वृत्तिमात्रस्य करणत्वोपपत्तेः। यदेवोपलब्धिसाधनं वृत्तिरन्यद्वा तस्यैव नः करणत्वं न संज्ञामात्रे विवाद इति करणानां व्यापित्वकल्पना निरर्थिका" इत्यनेन।

किञ्च स्वयं तेनैव च "यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरीक्षम्" [मुण्ड २। २। ५] इत्यादौ श्रुतौ "द्युभ्वाद्यायतनत्व"न्यायेन ब्रह्मैवाङ्गीकुर्व्वता तदायतनत्वाभावान्न जीवस्तत्प्रतिपाद्य इति "प्राणभृच्च" [ब्रह्मसूः १। ३। ४] इत्यत्र स्वीकृतम्। "न चोपा-

धिपरिच्छिन्नस्याविभोः प्राणभृतो द्युभ्वाद्यायतनत्वमपि सम्यग् भवति" [शां भां] इति स्वयं लिखितञ्च,--अन्यथा तत्सिद्धान्तो हीयेत। "असन्ततेश्चाव्यतिकरः" [ब्रह्मसूः २ । ३ । ४६] इत्यत्रापि लिखितम्—

उपाध्यसन्तानाच्च नास्ति जीवसन्तानः" [शां भां] इति । तस्मादुभयवादिमतेऽप्यविभुर्जीव इति एकमेव "पृथगुपदेशात्" [ब्रह्म सूः २ । ३ । २८] इत्यत्र माध्वभाष्योदाहृता सोपपत्तिकाकौषिकश्रुतिः—

"भिन्नोऽचिन्त्यः परमो जीवसङ्घात्
पूर्णः परो, जीवसङ्घो ह्यपूर्णः ।
यतस्त्वसौ नित्यमुक्तो ह्ययं च
बन्धान्मोक्षं तत एवाभिवाञ्छेत्" इति ॥

तस्मादणुरेव जीवः।

तथा "ज्ञातृत्वेति" - अतः पूर्व्वयुक्त्या ज्ञातृत्वादयस्तस्यैव धर्म्मा इत्यर्थः ।

तत्र नित्यत्वं चात्मनो "नात्मा श्रुतेः" [ब्रह्म सूः २ । ३ । १७] इत्यत्र प्रसिद्धमेव । ज्ञान एवेत्यत्र ज्ञ इति व्यपदेशेन ज्ञानाश्रयत्वं च स्वाभाविकमेवेति ।

श्रुतयश्च "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" [बृः आः २ । ४ । १४] "नहि विज्ञातुर्व्विज्ञातेर्व्विपरिलोपो विद्यते" [बृः आः ४ । ३ । ३०] "जानात्येवायं पुरुषः । न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखतां स उत्तमः पुरुषः नोपजनं स्मरतीनं शरीरम्" । "एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोड़श कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति" [प्रः उः ६ । ५] इत्याद्याः । तदेवं तस्य स्वाभाविके ज्ञातृत्वे सिद्धे यदविद्यया देहोऽहमित्यादिकं ज्ञातृत्वं तदपि तस्यैव, किन्त्वविद्यासम्बन्धात्तस्य तत

स्वाभाविकं न भवति, अपि तु विक्रियात्मकमेव, एतदपेक्ष्यैव श्रुतौ "ध्यायती लेलायति इव" [वृ: आ: ४ । ३ । ७] इत्यत्र 'इव' शब्दप्रयोगः कृतः । अतस्तत्तद्देहाद्युपाधिस्वास्थ्यतारतम्यात्तस्य ज्ञातृत्वस्य प्रकाशतारतम्यं भवतीति ज्ञेयम् । शुद्धस्य ज्ञातृत्वं तूदाहृतमेव ।

तदेव ज्ञातृत्वे सिद्धे कर्त्तृत्वमपि तद्वदेवेति ।

"कर्त्तृत्वमाह"—तच्च कर्त्तृत्वम् ,—अचेतनस्य स्वतः कर्त्तृत्वासम्भवात् तथा चैतन्यसामानाधिकरण्येनैव तत्प्रतीतेस्तस्यैव तद्धर्म्मः । क्वचित्त्वचेतनस्य यद्दृश्यते तदपि जीवभावश्रवणात् अन्तर्य्यामिसम्बन्धाच्च,—यथा स्तन्य-क्षरणादि ।

यथा च, "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्यो नद्यः स्यन्दन्ते चैतेभ्यः पर्व्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्याः यां याञ्च देशमनु" [वृ: आ: ३ । ८ । ६] इत्यादौ । "न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे" इत्यादौ च । तस्माच्चैतन्यरूपस्य जीवस्यैव कर्त्तृत्वं धर्म्मः । एतदेव "कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्" [ब्रह्मः सू: २ । ३ । ३३] इत्यारभ्य "समाध्यभावात्" [ब्रह्म सू: २ । ३ । ३६] इत्येतत्पर्य्यन्तं सूत्रकारेणैव योजितम् ।

श्रुतिश्च—

"विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्म्माणि तनुतेऽपि च" [तै: उ: २ । ५ । १] इति । न चेदं बुद्ध्यर्थम् ।

"एष द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञानात्मा पुरुषः" [प्रश्न उ: ५० । ६] इति श्रुत्यन्तरात् । "यो विज्ञाने तिष्ठत्" इत्यन्तर्य्यामिश्रुतौ तस्य विज्ञानत्वयातिप्रसिद्धेश्च ।

अतएव "प्राणान् गृहीत्वा" [वृ: आ: २ । १ । १८] इत्यत्र "तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय" [वृ: आ: २ । १ । १७] इत्यत्र प्राणग्रहणविज्ञानादानयोः कर्त्तृत्वं तस्य लौहाकर्ष-

कमणिवत् केवलस्यैव गम्यते। अन्यग्रहणादौ प्राणादि करणं प्राणादि ग्रहणादौ तु नान्यदस्तीति।

तदेतच्छुद्धस्यैव कर्त्तृत्वधर्म्मत्वं योजयितुं पुनः "यथा च तक्षोभयथा" [ब्रह्म सूः २ । ३ । ४०] इति सूत्रयित्वा स च जीवः करणयोगेन स्वशक्त्या च कर्त्ता भवतीत्यङ्गीकृतम्। तक्षा यथा तक्षणे बास्यादिकरणेन बास्यादिधारणे तु स्वशक्त्यैव कर्त्ता स्यादित्युभयथैव कर्त्ता भवति तद्वदिति सूत्रार्थः। "कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्" [ब्रह्म सूः २ । ३ । ३३] इत्यतः कर्त्तेत्यनुवर्त्तमानत्वात्। अत्र जड़ात्मकशरीरेन्द्रियाद्यावेशेन तैरेव करणैयेत कर्त्तृत्वं तच्छुद्धादेव पुरुषात् प्रवर्त्तमानमपि प्रकृति-वृत्ति-प्राचुर्य्यात् तत्तत्प्रधानत्वेन तत्कारणकत्वमेवेत्युच्यते इत्याह—"यत्र तु" इति। "यत्र तु"—प्राणग्रहणादिपूर्व्वोत्क्रान्त्यादि तत्र स्वकारणतैव स्फुटा,-यथोदाहृतम्—

"प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र"

[श्रीभाग ११ । ३ । ४०] इति।

"एतत् साम गायन्नास्त" [४ । ४ । २१ ब्रह्मसूत्रमाध्वभाष्ये दृष्टा श्रुतिः] "जक्षत् क्रीड़न्" [छाः उः ८ । १२ । ३] इत्यादौ मुक्तानामपि विहारलक्षणकर्त्तृत्वश्रवणान्न च कर्त्तृत्वमात्रस्य दुःखावहत्वमेवेति बाच्यम्। किन्तु प्रकृतिसम्बन्धिन एव कर्त्तृत्वस्य, तदेवं शुद्धात् प्रवर्त्तमानमपि तत्सम्बन्धि कर्त्तृत्वं तं शुद्धं न मलिनयति चिच्छक्तिप्राधान्यात्।

अत एवास्यैवौदासीन्यादकर्त्तृत्वादिव्यपदेशश्च क्वचिदस्ति। अतएव—

"शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्त्तुः" इत्युक्तम्।

"गुणाः सृजन्ति कर्म्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान्।
जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्" ॥

[श्रीभाग ११ । १० । ३१]

इत्यादिकञ्च। शुद्धस्यैव कर्त्तृत्वशक्तौ च यस्यापि ब्रह्मणि लयस्तस्य ब्रह्मानन्देनावरणात् कर्म्मसंयोगासंयोगाच्च कर्त्तृत्व-शक्तेरन्तर्भाव एवेत्यभ्युपगन्तव्यम्।

यस्य च भगवद्भक्तिरूपचिच्छक्त्या विशिष्टता चिच्छक्तिवृत्ति-विशेषपार्षददेहप्राप्तिर्व्वा, तस्य तत्सेवाकर्त्तृतेति न प्रकृतिप्राधा-न्यात् अपरत्र कैवल्याच्च।

अतो गुणातीतमपि कर्त्तृत्वमुक्तमित्याह—"परमात्मा" इति। किमपरं वक्तव्यम्। यतो ब्रह्मानन्दमतिक्रम्यापि तादृश-कर्त्तृत्वसुखं दृश्यते। यथा "या निर्वृतिस्तनुभृताम्" [श्रीभाग ४। ९। १०] इत्यादौ। तदेतत् प्रकृतिमतीतस्यापि कर्त्तृत्वम् तत्रैव क्लेशहानिपूर्व्वकं सुखञ्च तत्तद्दृष्टान्तेनैव सूचितम्। तक्षा हि वास्यादियोगं विनापि स्वयं गृहे भोजनपानादिकर्त्तृत्वं भजते, क्लेशहानिपूर्व्विकां निर्वृतिञ्च भजत इति तदेवं भोक्तृत्वमपि सिद्धम्।

तच्च प्रकृतिसन्निधानेनापि भवत्सम्वेदनरूपत्वेन जड़ात्मक-प्रकृतिविरोधिरूपत्वान्न तत् प्राधान्यं भजते। किन्तु चिदात्मक-पुरुषप्राधान्यमेव। तदेतदाह "अथ" इति। स्वरूपसम्वेदनसु-खादौ तु प्राधान्यं सुतरां सिद्धमेव। स्वस्मै स्वयं प्रकाशमान-त्वात्। तदुक्तम् "स्वदृगिति" तदेतद्व्याख्यातं ज्ञातृत्वादि त्रयम्। श्रुतिश्च—

"अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा" [छाः उः ८। १२। ४] "स आत्मा कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्त-र्ज्योतिः पुरुषः" [वृः आः ४। ३। ७] "एष हि द्रष्टा श्रोता रस-यिता घ्राता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः" [प्र उः ४। ९] इति।

"अथ परमात्मैकशेषस्वभाव इति"। एतदुक्तं भवति,—

"न तावद्ब्रह्मस्तबोपाधिपरिच्छेदपक्षे तत्परिच्छिन्नो ब्रह्मखण्डोऽणुरूपो जीवः। अच्छेद्यत्वादखण्डत्वाभ्युपगमाच्च ब्रह्मणः;—आदिमत्तापाताच्च जीवस्य। यत एकस्यैव वस्तुनो द्वैधीकरणं छेदनम्।

अथाच्छिन्न एवाणुरूपोपाधिसंयुक्तो ब्रह्मप्रदेशविशेष इति चेत्? (पूः) उपाधौ गच्छत्युपाधिना स्वसंयुक्तब्रह्मप्रदेशाकर्षणायोगादनुक्षणमुपाधिसंयुक्तब्रह्मप्रदेशभेदात् क्षणे क्षणे बन्धमोक्षौ स्याताम्।

अथोपाधिसंयुक्तं ब्रह्मस्वरूपमेव जीवः? (पूः) तर्ह्यनुपहितब्रह्मव्यपदेशासिद्धिः स्यात्—जीवस्यैकत्वं च—"य आत्मनि तिष्ठन्" [सुवाल उः ७; वृः आः ५।६।२२] इत्यादिश्रुतिविरोधः, "शब्दविशेषात्" [ब्रह्म सू १।२।५] इत्यादिन्यायविरोधश्च सर्व्वत्र।

अत्र ब्रह्माधिष्ठानमुपाधिरेव जीवः? (पूः) तदेव, मोक्षे जीवनाशः स्यात्। तस्मान्नासौ पक्षः। तदेवमविद्याकल्पितोपाधिपरिच्छेदे तु न दोषाः कल्प्यन्ते।"

किन्तु जीवभावकल्पनाहेतोस्तस्या मूलाविद्याया न तु जीव एवाश्रयः स्वाश्रयादिदोषात्। ऐश्वर्य्यञ्च तयैव कल्पितमिति न चेश्वरः। ततः शुद्धञ्चैतन्यमेवावशिष्टमिति।

तत्रैव कल्पनीयम्, तच्चाघटमानं चिदेकरसस्य कथं देवदत्तस्येवाज्ञानं सम्भवेत् यस्याज्ञानं स एव ज्ञानाश्रयस्तदुपरक्तश्च भवतीति शुद्धस्याप्यज्ञाने चानिर्म्मोक्षप्रसङ्गः।

किञ्चेश्वरावस्थायामेतदज्ञानं न विद्यते। तैरेव "ईक्षतेर्नाशब्दम्" [ब्रह्मसूत्र १।१।५] इत्यत्र ज्ञानप्रतिबन्धवान् जीवः। ईश्वरस्त्वप्रतिबन्धस्वरूपभूतज्ञान इति सिद्धान्तितम्—"यः सर्व्वज्ञः" [मुण्ड १।१।६] इत्यादि श्रुतिश्च।

अतएवाज्ञानकल्पितोपाधौ प्रतिविम्बो जीवः आभासो वेत्यपि पूर्व्ववत्।

किञ्च,—तेषां मतत्रयविवेचनमिदम्—प्रथममते तावदविद्या नाम जीवाश्रया जीवस्य नानात्वान्नाना। ततश्चाविद्यातद्दात्म-सम्बन्धजीवतद्विभागानामनादित्वात्तदज्ञानविषयीभूतं ब्रह्म शुक्ति-रजतवज्जगद्रूपेण विवर्त्तते।

तत्रापराबाहतुः—तथा चाज्ञानविषयीभूतं ब्रह्मैवेश्वर इत्य-न्तर्य्यामिश्रुतिविरोधात्। यदज्ञानकृतं तत्तेनैव गृह्यत इति प्रति-जीवं जगत्कल्पनाभयाच्च न सम्यगवगम्यते।

न च मायावच्छिन्नचैतन्यमीश्वरः, तदाश्रयो मायेति वाच्यम्। तस्यान्तर्य्यामित्वे द्विगुणीकृत्य वृत्तिविरोधादिति।

अत्र जीवत्वं चाविद्याकृतमेवेत्यविद्यादीनामनादित्वेऽप्यवि-द्याया जीवाश्रयत्वायोग एव। रज्जुसर्पादेरज्ञानाश्रयत्वायोगात्। अन्यस्यैव तद्योगाच्च। बीजवृक्षादिवदज्ञानपरम्परया जीवत्व-परम्परा जन्मनि च जीवस्याद्यन्तवत्त्वं च प्रतिजन्मैव तत्पार्थक्यं च प्रसज्ज्येत।

अथ द्वितीयमते—चैतन्यस्याविद्याप्रतिविम्ब ईश्वरश्चैतन्या-भासो जीवः। स च मिथ्येति रज्जुः सर्प इतिवद्वाधायां सामा-नाधिकरण्यं; निषेधप्रधाना एव श्रुतयः शुद्धसमर्पिका इति तासा-मेव महावाक्यत्वम्।

सुषुप्तौ सर्व्वमेव विलीयते। उत्थितो जीवः पुनः सम्प्रतिपद्यत इत्यज्ञातसत्त्वानङ्गीकारेण दृष्टिरप्येषा चेश्वरप्रतिपादनेऽप्यविरुद्धा ईश्वरेण ज्ञातसंस्कारानुवर्त्तमानात्।

अत्र चापराबाहतुः—जीवनाशस्य मोक्षत्वभिया न सम्यगपे-क्षते तदिति। अत्र च नित्यत्वमेव वेत्तृसम्बन्धिन्या अविद्याया आश्रयनिरूपणाशक्यत्वात् तदवस्थमेव। ईश्वरकर्त्तृत्वसार्व्व-ज्ञादिसंघवादस्तु वेदान्तेषु प्रलाप एव स्यात्। तदग्रे विवेचनीयम्।

तथा तृतीयमते सत्त्वरजस्तमस्त्रिगुणात्मिका अविद्या ब्रह्माश्रया च। सैव लाघवादावरणविक्षेपशक्तिभ्यामविद्या मायेति गीयते। आवरणशक्त्याञ्चैतन्यस्य प्रतिविम्वो जीवः। विक्षेपशक्त्यां प्रतिबिम्ब ईश्वरः। उपाधिनिष्ठत्वेन विम्वाभिन्नत्वेन च प्रतीयमानो बिम्ब एव प्रतिबिम्बः,—प्रतिविम्वपक्षपातित्वादुपाधेरितीश्वरोऽहं जगत् करोमीति जीवोऽयमहं न जानामीत्यध्यवस्यति।

न च शुद्धे स्वप्रकाशे ब्रह्मण्यविद्यासम्बन्ध-विरोधः। अविरोधे वा सानन्याश्रयैव,—नाशकान्तराभावादिति वाच्यम्। मध्यन्दिनवर्त्तिनि सवितरि उलुककल्पितान्धकारवत् स्वपरानिर्व्वाहकत्वेनाविरोधात्।

तथा साक्षिणो घातकत्वाभावात् प्रत्युत भासकत्वात् प्रमाणवृत्तेरेव द्योतकत्वात् ईश्वरस्य वशे वर्त्तमानाया अविद्याया अनादिजीवादृष्टवशात् सत्त्वरजस्तमसां प्रत्येकाधिक्ये स्थितिसर्गलयकर्त्तृत्वमिति।

अत्रापर आहुः—इदमप्ययुक्तमिति। अनादित एवानन्याश्रयत्वेन तयैव जीवादिद्वैतं कल्पितमिति कल्पकान्तराभावेन च तस्यास्तस्स्वाभाविकत्वेन लब्धायाः कदाचिदप्यग्नेरौष्ण्यवदत्याज्यतया सम्प्रतिपत्तिभङ्गात् ब्रह्मणः स्वतः शक्तिमत्त्वाभावेन तदितरवस्त्वन्तरस्याभावेन शक्तेः शक्तिमदविनाभावेन च स्वाभाविकत्वारोपितत्वतटस्थत्वानामेकतरस्याप्यसम्भावितया तस्याः षष्ठबुद्धीन्द्रियादिवदत्यन्ताभावप्रसङ्गात्।

अद्वयस्य शुद्धस्यैव सतः प्रतिविम्बत्वापत्तिस्वीकारे तस्य च कल्पना कर्त्तृत्वाद्यभावे कल्पनयापि तस्यापि व्यवहितच्छटासम्वन्धस्याभावेन प्रतिविम्बत्वायोगात्। अत एव सिद्ध एव ब्रह्मण्यविद्यासम्बन्धे तत्प्रतिबिम्बो जीवः सिद्ध्यति, सिद्ध एव

जीवे च तत्कल्पितो ब्रह्मण्यविद्यासम्बन्धः सिद्ध्यतीति परस्पराश्रयप्रसङ्गात्। तथा ब्रह्मणस्तत्सम्बन्धं कल्पयति ब्रह्मस्वरूपस्यैव जीवस्यान्धकारकल्पकोलूकदृष्टिवदविद्यान्तरे लब्धे तेनैव जीवत्वेश्वरत्वादिर्विवर्त्तो सिद्धे पुनरपि जीवादिलक्षणप्रतिबिम्बत्वापादकोपाध्यन्तरकल्पनाया वैयर्थ्यात्। ज्ञानवत्येवाज्ञानं दृष्टं सम्भावितञ्च ज्ञानमात्रे तु नेति तदत्यन्तविरोधात्।

ननु मरीचिकायां कल्पितजलवत्, कल्पनामयोपाधिसम्बन्धे प्रतिबिम्बादर्शनात्। अत्र हस्तपरिमितमात्रविष्कुपरिमितं नभसोऽप्येकदेशलक्षणावयवस्वीकारेण सूर्य्यादिरश्मितादात्म्यापन्नतया तदव्यवहितच्छटा-सम्बन्धेन च तस्य प्रतिबिम्बताभानं नात्यसम्बद्धमिति निरवयवस्य नीरूपस्य च ब्रह्मणस्तु प्रतिबिम्वासम्भवात्, उपाधेश्च नैरूप्येण तदत्यन्तासम्भवात्, देहतादात्म्यापन्नस्य चैतन्यस्य देहप्रतिबिम्बत्वानुपलम्भात्।

अन्यत्र मुखादेः प्रतिबिम्वस्य च दृश्यस्य द्रष्टान्यो भवति। अत्र तु प्रतिबिम्वस्य जीवस्येश्वरस्य च प्रतिबिम्बतां प्राप्तस्य ब्रह्मणो वा द्रष्टा कः स्यात्, दृश्यत्वे च जड़त्वं कथं न स्यात् इत्याद्यनुपपत्तेः।

प्रतिबिम्बे वस्तुनि निजोपाधेः कल्पनाय नाशनाय चालम्भावादर्शनेन जीवकर्त्तृकप्रामाण्यज्ञानेनापि तदुपाधिलक्षणाविद्याया नाशनानुपपन्नत्वात। तिष्ठतु तावत्तत्पदार्थोपाधेर्नाशनवार्त्ता। पृथगधिष्ठानतया प्रत्यक्षत एव भेदोपलम्भनेन प्रतिबिम्बक्षोभे विम्वाक्षोभदर्शनेन विपरीततयोदयेन तस्मादाभासज्योतिरुदयास्तम्। पश्यद्भिरपि दृश्यत इति इति केवलस्वच्छवस्तुसंयुक्तदृष्टिप्रतिगमनोपलब्धतद्वस्तुमात्रत्वायोगेन च प्रतिबिम्बस्य बिम्वत्वाभावे तन्नाशस्यैवात्राप्याभासवन्मोक्षताप्रसङ्गात्,—तथेश्वरस्य नित्यविद्यामयत्वेन जीवस्यानादित एव न जानामीत्यभिमानत्वेन ब्रह्मणि

विक्षेपरूपाविद्यांशसम्बन्धकल्पनायामप्ययुक्तेरीश्वराकारप्रतिवि-म्वानुपपन्नत्वात्, जीवेश्वरयोः पृथक् पृथक् निजोपाधावीश्वरस्य सर्व्वान्तरत्वश्रुतिविरोधात्,—क्षीरनीरवत् परस्परमिश्रीभूते च तदुपाधिद्वये प्रतिबिम्बैकत्वस्यैव सम्भवात्,—ईश्वरस्य माया-प्रतिबिम्बाकारत्वे शक्त्यन्तराभावे च वशीकृतमायत्वाभावेनै-श्वर्य्यासिद्धित्वात् प्रत्युत जलचन्द्रादिवदुपाधिचेष्टानुगतत्वेन तद्व-श्यत्वापातात्। किं बहुना, श्रुतिपुराणादिप्रसिद्धस्य परमेश्वरस्व-रूपैश्वर्य्यस्यापि मायिकमात्रस्वीकारे तन्निन्दार्जिततदुर्व्वारानिर्व्व-चनीयमहापातककोटिप्रसङ्गाच्चेति।

अत एव शङ्करशारीरकेऽपि "अम्बुवदग्रहणान्न तथात्वम्" [ब्रह्म सूः ३।२।१९] इत्यनेन न्यायेन प्रतिबिम्बत्वं "वृद्धिह्रास-भाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्" [ब्रह्म सूः ३।२।२०] इति न्यायेन प्रतिबिम्बसादृश्यमेव स्थाप्यते, तच्च प्रतिबिम्बत्वमे-वाभासीकरोति।

अत आभास एव चेत्यत्रापि तद्वदेव मन्तव्यम्। प्रतिबिम्बा-भासस्तु तत्तुल्यः, न तु वस्तुतः प्रतिबिम्ब एवेत्यर्थः।

तस्मात्तत्तदसद्भावात् ब्रह्मणो भिन्नान्येव जीवचैतन्यानी-त्यायातम्। अतो "नेतरोऽनुपपत्तेः" [ब्रह्म सूः १।१।१६] इति "भेदव्यपदेशाच्च" [ब्रह्म सूः १।१।१७] इतीमे सूत्रे कल्पनामयभेदव्याख्यया न सङ्गच्छेते, वास्तवभेदे तु "सोऽका-मयत बहु स्यां प्रजायेय" [तैः आः ८।६] इति "स तपोऽत-प्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्व्वमसृजत यदिदं किञ्च" [तैः आः उः ६।२] इत्यादेः "रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा-नन्दी भवति" [तैः उः २।६।१] इत्यादेश्च विषयवाक्यस्य पीड़नं न स्यात्। "तपोऽतप्यत" इति "एको बहु स्याम्" इत्यादि ज्ञानं प्रकाशयदित्यर्थः।

"नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" [वृ: आ: उ: ३ । ७ । २३] इत्यादि श्रुतिस्तु पूर्व्ववत् सम्भावितं तदूर्द्ध्वमन्यं द्रष्टारं निषेधति । "स कारणं कारणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिप:"

[श्वेताश्व ६ । ६]

इतिवत् ईश्वरादन्यं प्रकृतिसृष्ट्यर्थेक्षणकर्त्तारं वा निषेधति । तदुक्तं शङ्करशारीरकेऽपि—

यत्त्वीक्षणश्रवणमप्रजसोस्तत् परमेश्वरावेशबशादेव द्रष्टव्यं, "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" [वृ आ: ३ । ७ । २३] इतीक्षीत्रन्तर-प्रतिषेधात् । प्राकृतत्वाच्च सत ईक्षितु: "तदैक्षत" [छा: उ: ६ । २ । ३] इत्यत्रेति । एवं "विवक्षितगुणोपपत्तेश्च" [ब्रह्म सू: १ । २ । २] इति "अनुपपत्तेस्तु न शारीर:" [ब्रह्म सू: १ । २ । ३] इत्यनयो: पारमार्थिक एव जीवादधिक: परमेश्वरे बिवक्षितो गुणसमुदाय उपपद्यते ।

किञ्च जीव एव स्वाज्ञानेन स्वात्मनि जगत् कल्पयतीति तेषां सिद्धान्त: । जगत्कल्पनान्यथानुपपत्त्या च सत्यसङ्कल्पत्वादयो गुणा: स्वीकृता: ।

ततो जीव एव ते गुणा उपपद्यन्ते नान्यस्मिन् तत्कल्पिते न वा निर्गुणे ब्रह्मणीति सूत्रद्वयमिदमसङ्गतं स्यात्—"सम्भोग-प्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्" [ब्रह्म सू: १ । २ । ८] इत्यत्रापि पूर्व्ववत् ।

किञ्च सम्भोगशब्दस्य "सहभोग" एवार्थ: सम्वादादिवत् नान्य: । ततश्च सहार्थत्वेन जीवेश्वरयोर्भेदमङ्गीकृत्यैव सूत्रितं न त्वैक्यम् ।

अतएव "वैशेष्यात्" इति प्रस्तुतयोर्जीवपरयोरेव वैशेष्य-मङ्गीकृतम—नत्वेकस्यैवात्मनोऽवस्थाभेदेन । एवं "गुहां प्रविष्टा-वात्मानौ हि तद्दर्शनात" [ब्रह्म सू: १ । २ । ११] इत्यनेन "तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्" [तै: उ २ । ६ । १] इत्यत्र—

अनेन जीवेनात्मनानु प्रविश्येत्यत्र परमात्मन एवोपाधिप्रविष्टस्य सतः शरीरत्वमिति व्याख्या प्रत्याख्याता । उभयरूपत्वेनैव प्रवेशाङ्गीकारात् । श्रुतिश्च—

"ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥"
[कठ उः ३ । १] इति ॥

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥"
[श्वेताश्व ४ । ६ । मुण्डक ३ । १ । १] इति च ।

ननु पैङ्गिरहस्यब्राह्मणे—"एतयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति" इति । "सत्त्वम् अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" इति चानश्नन् योऽभिपश्यति ज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ" इति ताभ्यां शब्दाभ्यामन्तःकरणजीवावेव व्याख्यातौ । अतएव तत्रैव "तदेतत् सत्त्वं येन स्वप्नं पश्यत्यथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ" इत्युक्तम् । नैवम् । तत्रापि सत्त्वशब्देन जीव एव, क्षेत्रज्ञशब्देन परमात्मैव चेति व्याख्या सङ्गता । स्वाद्वत्तीति चेतनत्वोक्तिपीड़ापत्तेः,-कर्म्मफलानशनस्य क्षेत्रज्ञेष्वसम्भवात् । सत्त्वादिशब्दाभ्यां जीवाद्योः प्रसिद्धेश्च ; जीवस्य च सत्त्वशब्दाभिधेयत्वे कारणं तदेतत् सत्त्वमित्यादिसत्त्वाधिष्ठानत्वात् सोऽपि सत्त्वमुच्यते इत्यर्थः ।

तथा पृथिव्यादिलक्षणशरीरान्तर्य्यामित्वात् परमात्मापि शारीर उच्येत इति । "योऽयं शारीरः" [छाः आः ३ । ६ । १०] इत्युक्तं, परमात्मनि ह्येवोपद्रष्टृशब्दप्रसिद्धेः—

"उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः" [गीता १३ । २२] इत्यादौ । व्याख्यान्तरे । "स्थित्यदनाभ्याञ्च" [ब्रह्म सूः १ । ३ । ६] इति सूत्रे च जीवपरमात्मगत "द्वासुपर्णा" [श्वे-

ताश्व १ । २] इत्याद्युक्तश्रित्यादिद्वयविवेचनं विरुध्यते । वक्ष्यति चोत्तरग्रन्थे "प्रकाशादिवन्नैवं परः" [ब्रह्म सूः २ । ३ । ४५] इत्यनन्तरं "स्मरन्ति च" [ब्रह्म सूः २ । ३ । ४६] इत्यत्र "तयोरन्यः पिप्पलम्" इत्यनयैव श्रुत्या जीवस्य कर्म्मफल-प्रतिपादनं शङ्करशारीरकेऽपीति । तस्मादनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्येति सहार्थे एव तृतीया ।

आत्मशब्दप्रयोगश्च शारीरस्याप्यात्मत्वप्रसिद्धेः । "क्षरात्मनावीशते देव एक" [श्वेताश्व १ । १०] इत्यादौ । अत्रापि भेदविवक्षयैवानेनेत्युक्तम् । अथवा अत्रात्मशब्देनात्मांश एव वाच्यः । एवञ्च "शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते" [ब्रह्म सूः १ । २ । २०] इत्यत्र च पूर्व्ववद्भेद एव । "यो विज्ञाने तिष्ठन्" [बृः आ ३ । ७ । २२] इति काण्वाः, "यः आत्मनि तिष्ठन्" [बृः आः १ । २ । २०] "माध्यन्दिनाश्चान्तर्य्यामिणो भेदेनैनं शारीरं पृथिव्यादिवदधिष्ठानत्वेन नियम्यत्वेन चाधीयते" [शाङ्करभाष्ये] इत्यधिकम् । एवं "विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ" (ब्रह्म सूः १ । २ । २२) इत्यादिषु "जगद्वाचित्वात्" (ब्रह्म सूः १ । ४ । १६) इत्यादि त्रिषु "पराभिध्यानात्तु तिरोहितम् ततोह्यस्य वन्धविपर्य्ययौ") ब्रह्म सूः ३ । २ । ५) इत्यादिषु च ज्ञेयम् ।

"शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" (ब्रह्म सूः १ । १ । ३०) इत्यत्र तु व्याख्येयम् । "प्राणो वा ह्यहमस्मि पुरुषः" इत्यादिकं यत् स्वस्य परमेश्वरत्वमिवोपदिष्टमिन्द्रेण तत्तु "तत्त्वमसि" (छाः उः ६ । ८ । ७) इत्याद्यभेदप्रतिपादकशास्त्रदृष्ट्या सम्भवति,—चिदाकारसाम्येनैक्यात्—क्वचिदधिष्ठानाधिष्ठात्रोरेकशब्दप्रत्ययाभ्यां वा शरीरशरीरिणोर्व्वा,—यथैव वामदेव

उवाच—"अहं मनुरभवं सूर्य्यश्च" (बृः आः १ । ४ । १०) इत्यादि ।"उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु" [ब्रह्म सूः १ । ३ । १६] इति ह्यत्रापीयं व्याख्या,—पूर्व्वं दहरवाक्ये 'दहर'शब्देन परमेश्वर एव निर्णीतः,—जीवस्तु प्रत्याख्यातः । अपहतपाप्मत्वादि-धर्म्मैः तत्रोत्तरग्रन्थे जीवेऽपि ते धर्म्माः श्रूयन्ते ।

तत इदमुच्यते—"आविर्भूतस्वरूपस्तु जीवः तत्रोच्यते । मुक्तौ परमेश्वरप्रसादेन तत्साधारण्यप्रायाभिभावात् तस्य ।"परमं साम्यमुपैति" [मुण्ड ३ । १ । ३] इति श्रुतेः ।

ननु तथापि दहरवाक्ये परमेश्वरो वा मुक्तजीवो वाभिधीयत इति सन्देहः । उभयाभिधेयत्वे च वाक्यभेद इत्याशङ्क्य सूत्रान्तरम्—"अन्यार्थश्च परामर्शः" [ब्रह्म सूः १ । ३ । २०] इति । परमेश्वरस्वरूपदर्शनार्थमेव तटस्थलक्षणेन जीवस्वरूपं पुनः पुनः परामृश्यते । तत्र क्वचिदैक्येनाभिधानं साधर्म्यांशज्ञानार्थमेवेति भावः ।

अतएव "स तत्र पर्य्येति जक्षत् क्रीड़न् रममाणः" [छाः उः ८ । १२ । ३] इत्यपि मुक्तावस्थायामुक्तम् । जीवपरयोर्भेदस्तूक्त एव तत्र । "एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुप-सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः" [छाः उः ८ । १२ । ३] इति ।

अतएवाविर्भूतस्वरूप इति बहुव्रीहिणा जीव एवाभिहितः । अत्र मूलपूर्व्वगत्याश्रयणमपि कष्टमेव ।

तथा मैत्रेयीब्राह्मणेऽपि—"यदिदं नवा अरे सर्व्वस्य कामाय सर्व्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्व्वं प्रियं भवति आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" [बृः आः २ । ४ । ५] इत्यादिना जीवस्यैव द्रष्टव्यत्वादिकं निर्द्दिशन् तस्यैव परमात्मत्वं दर्शयतीति प्रतीयते ।

तन्न । यतः परमपुरुषाविभूति-भूतस्य प्रात्तुरात्मनः स्वरूपयाथार्थ्यविज्ञानमयवर्गसाधनभूतपरमपुरुषवेदनोपयोगितयानूद्य पुनः "आत्मा वै" इत्यादिना परमात्मैवामृतत्वोपाया-द्रष्टव्यतयोपदिश्यते ।

"तस्य वा एतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्व्वेदः" [मैत्र उः ६ । ३२ ; वृः आः २ । ४ । १०] इत्यादिकं हि तस्यैव लिङ्गमिति ।

एतदभिप्रेत्यैव श्रीशुकेन स्वयं व्याख्यातम्—

"तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा" [श्रीभाग १० । १४ । ५२] इत्युक्त्वा "कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्" [श्रीभाग १० । १४ । ५३] इत्यादिना । ततोऽपि तस्य प्रियतमत्वमिति ।

तस्मात् परमेश्वरस्वरूपाद्भिन्नस्वरूप एवात्मा ।

ननु भिन्नत्वे सति "यावद्विकारान्तु विभागो लोकवत्" [ब्रह्म सूः २ । ३ । ७] इति न्यायेन विकारत्वप्राप्तिः स्यादात्मनः ? न—वैधर्म्यान्तरात् । तच्च वैधर्म्यं प्रमाणानपेक्षसिद्धत्वम् । आत्मा हि प्रमाणादिविकारव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव तद्व्यवहारात् सिद्ध्यति । अतो विभागयुक्तिलब्धन्यायस्य नात्रावतारः । नित्यत्व-श्रुतिश्चास्माकमत्रास्ति—यथा वैकुण्ठादिवस्तूनामपि सैव नित्यत्वं शास्तीति । "नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः" [ब्रह्म सूः २ । ३ । १७] इति न्यायान्तरञ्च तं न्यायमपसारयति । तदेवमादिश्रुतिन्यायाभ्युपगमाद्भिन्न एव जीवः । तत्र "को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः" [ईश उः ७] इत्याद्याः श्रुतयस्तु परमात्म्यैक्यापेक्षा एव । यथा महाभारते—

"बहवः पुरुषा लोके साङ्ख्ययोगविचारणे" [महाभाः; शान्ति, ३५० अः २ श्लोक] इति परमतम् ।

स्वमते पारम्परिकजीवभेदे साक्षितयोपन्यस्य पुनस्तद्विलक्षण

परमात्मविषयं स्वमतातिशयमाह ।

"बहूनां पुरुषाणां हि यथैका योनिरुच्यते ।
तथा तं पुरुषं बिश्वमाख्यामि गुणतोऽधिकम् ॥"

[महाभा: शान्तिप: ३५० अ: ३ श्लोक]

इत्युपक्रम्य—

"ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहिसंज्ञिताः ।
सर्व्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित् क्वचित् ॥
"बिश्वमूर्द्धा बिश्वभुजो बिश्वपादाक्षिनासिकः ।
एकश्चरति भूतेषु स्वैरचारी यथासुखम्" इति ॥

[महाभा:, शान्तिप: ३५१ अ:, ४-५ श्लोकः]

न च भेदे सर्व्वज्ञानप्रतिज्ञा हीयेत—सर्व्वशक्तिमयत्वाद् ब्रह्मणः । तस्मादस्ति जीबपरयोर्भेदः ।

तदेवं भेदज्ञानेनैब मुक्तिः श्रूयते ।

"भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा" [श्वेताश्व १ । १२] इति ।

"पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा ।
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥" [श्वेताश्व १ । ६] इति

"जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमेति बीतशोकः" इत्यादिषु मुक्ताबपि भेद एबोपलभ्यते । यथा व्याख्यातं माध्व-भाष्ये—"भोक्त्रापत्तेरबिभागश्चेत् स्याल्लोकबत्" [ब्रह्म सू: २ । १ । १४] इत्यत्र "कर्म्माणि, बिज्ञानमयश्चात्मा परेऽव्यये सर्व्वे एकीभबन्ति" इति ।

"ब्रह्मबिद् ब्रह्मैव भवति" [मुण्डक ३ । २ । ६] इति च मुक्तजीबस्य परापत्तिरुच्यते । अतस्तयोरबिभागः ।

अतः पूर्व्वमपि स एब, नह्यन्यस्यान्यत्वं युज्यत इति चेन्न स्याल्लोकबत् । यथा लोके उदकमुदकान्तरेणैकीभूतमिति व्यब-ह्रियमाणमपि भिन्नवस्तुत्वात् तदन्तर्भूतमेब भवति, नतु तदेब

भवतीत्येवं स्यादत्रापि। तथाच श्रुतिः—

"यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्व्विजानत आत्मा भवति गौतम" ॥

[कठ ४। १५] इति।

स्कान्दे च—

"उदकन्तूदके सिक्तं मिश्रमेव यथा भवेत्।
तद्वै तदेव भवति यतो बुद्धिः प्रवर्त्तते ॥
एवमेव हि जीवोऽपि तादात्म्यं परमात्मना।
प्राप्नोति नासौ भवति स्वातन्त्र्यादिविशेषणात् ॥
ब्रह्मेशानादिभिर्द्देवै र्यत् प्राप्तुं नैव शक्यते।
तद् यत्स्वभावः कैवल्यं स भवान् केवलो हरे" इतीति।

श्रीरामानुजभाष्येऽपि—"नापि साधनानुष्ठानेन निर्म्मुक्ताविद्यस्य परेण स्वरूपैक्यसम्भवः। अविद्याश्रयत्वयोग्यस्य तदर्हत्वासम्भवात्" [श्रीभाष्य वें कों १ खः ६६ पृः] इति युक्तिश्च दर्शिता। मुक्तस्य तु तद्धर्म्मापत्तिरिति भगवद्गीतासूक्तम्—

"इदं ज्ञानं समाश्रित्य मम साधर्म्म्यमागताः।
सर्गेऽपि न प्रजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥" [गीता १४। २]

श्रीविष्णुपुराणे च—

"तद्भावभावमापन्नस्तदासौ परमात्मना।
भवत्यभेदो भेदश्च तस्याज्ञानकृतो भवेत् ॥"

[विष्णु ६। ७। ६५]

इति। मुक्तस्य स्वरूपमाह। तद्भावो ब्रह्मणो भावः—स्वभावः, न तु स्वरूपैक्यम्, तद्भावभावमापन्न इति द्वितीयभावशब्दानन्वयात्।" [श्रीभाष्य वें कों १ खं ७१ पृः]

ततस्तस्यैव भावोऽपहतपाप्मादिरूपः स्वभावो यस्येति बहुव्रीहौ तद्भावभावं ब्रह्मस्वभावकत्वमित्यर्थः।" [श्रीभाष्ये]

ततस्तेन स्वभावेनैव परमात्मना सह अभेदी तुल्यो भवतीति विवक्षितम्। यतस्तत्स्वभावविरोधी देवमनुष्यत्वादिलक्षणो भेदस्तस्याज्ञानकृत एवेति। अतएवाविर्भूतस्वरूपस्त्वित्यत्रापि—"एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" [छाः उः ८ । १२ । ३] इति दर्शितम्।

"तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" [मुण्डक उः ३ । १ । ३]इत्यादि च श्रुत्यन्तरम्।

पुनश्च विष्णुपुराणे—

"आत्मभावं नयत्येनं तद्ब्रह्मध्यायिनं मुने !
विकार्य्यमात्मनः शक्त्या लोहमाकर्षको यथा ॥"
[विष्णुपुः ६ । ७ । ३०]

इति भेद एवाभिप्रेतः।

यत आत्मभावमात्मन्यस्तित्वं संयोगं नयति—ब्रह्मध्यायिनं प्रतीतिशक्त्येति चाभिधीयते।" [श्रीभाष्ये]

इत्यमेवाकर्षकदृष्टान्तो घटते न त्वैक्येन। तदेवं भेदवाक्येषु सत्सु युक्तिवाक्याविरुद्धेषु भेदवादेषु ब्रह्मवादः "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" [मुण्डक उः ३ । २ । ६] इत्यत्रापि ब्रह्मतादात्म्यमेव बोधयति। स्वाभाव्यापत्तिरुपपत्तेरितिवत्।

तत्रापि हि जीवानामाकाशत्वादिप्राप्तिशब्दा अनुपपत्तेराकाशादिधर्म्मतदत्यन्तासंश्लेषयोरापत्तिमेव बोधयन्ति।

"मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्" (ब्रह्म सूः १ । ३ । २) इत्यपि मुक्तानामेव सतामुपसृप्यं ब्रह्म यदि स्यात्तदेवाक्लेशेन सङ्गच्छते।

"मुक्तानां परमा गतिः" (१ । ३ । २ ब्रह्मसूत्र-माध्वभाष्ये धृतम्) इत्यादिवाक्यञ्च तथैव। अतएव तैत्तिरीयोपनिषदि च

भेदे एव मुक्तावाम्नायते "रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" (तै: आ: ७। २) इति।

तस्मात् सर्व्वथा भेद एव जीवपरयोः। तथाच श्रुतिः—

"अस्मान्मायी सृजते विश्वमेत-

त्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः।" (श्वेताश्व ४। ६) इति।

"ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशावनीशौ" (श्वेताश्व १। ६) इति।

"नित्यो नित्यानाञ्चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" (श्वेताश्व ६। १३) इति।

"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति" (मुण्डक उ: ३। १। १) इति।

"अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते

जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" (श्वेताश्व ४। ५) इत्याद्याः। गीतोपनिषच्च—

"अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्॥

जीवभूताम्"—(गीता ७। ४-५) इति।

"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्"

(गीता १४। ३) इति।

"ईश्वरः सर्व्वभूतानां हृद्देशेऽर्ज्जुन तिष्ठति" (गीता १८। ३१)

माध्वभाष्ये,—"विशेषणाच्च" (ब्रह्म सू: १। २। १२) इत्यत्र श्रुतिस्मृती—

"सत्य आत्मा सत्यो जीवः सत्यं भिदा सत्यं भिदा सत्यं भिदा मैवारुवण्यो मैवारुवण्यो मैवारुवण्यः" (पैङ्गी श्रुतिः)

"आत्मा हि परमस्वतन्त्रोऽधिगुणो जीवोऽल्पशक्तिरस्वतन्त्रोऽवरः" (भाल्लवेय-श्रुतिः) इति।

'यथेश्वरस्य जीवस्य भेदः सत्यो विनिश्चयात्।

एवमेव हि मे वाचं सत्यां कर्त्तुमिहार्हसि॥" इति

तदेवमभेदं वाक्यं द्वयोश्चिद्रूपत्वादिनैवैकाकारत्वं बोधयत्युपासनाविशेषार्थं न तु वस्त्वैक्यम्। तदित्थमभेदनिर्द्देशेऽपि हेतुं वदन् प्रकरणमारभ्यते। तदेवं शक्तित्वे सिद्ध इति सप्तत्रिंशद्वाक्याभासादिना।

अन्य आहुः—यथा यमुना-निर्भरमुद्दिश्य "त्वं कृष्णपत्न्यसि" तत्पत्नी सैषा, सूर्य्यमण्डलमुद्दिश्य च "संज्ञापतिरसि" तत्पतिरयमित्यधिष्ठानधिष्ठेययोरभिमानिनोर्लोक-वेदेष्वेक-शब्दप्रत्ययनाभ्यां प्रयोगसहस्राणि दृश्यन्ते तदधिष्ठातारमुद्देष्टुम; तथा "तत्त्वमसि" इत्याद्यपि पृथिवीजीवप्रभृतीनां तदधिष्ठानतया प्रसिद्धिस्तु वृहती—"यः पृथिव्यां तिष्ठन्" (वृः आः ५ । ७ । ३) "य आत्मनि तिष्ठन्" (वृः आः ५ । ७ । ३) इत्यादिषु। ततोऽपि न वस्त्वैक्यमिति स्थितम्।

श्रीरामानुजीयास्त्वेवमाचक्षते—

"तत्त्वमस्यादिवाक्येषु सामानाधिकरण्यं न निर्व्विशेषवस्त्वैक्यपरम्। तत्त्वंपदयोः सविशेषब्रह्माभिधायित्वात्। सामानाधिकरण्यस्य प्रकारद्वयपरित्यागे प्रवृत्ति-निमित्तभेदासम्भवेन सामानाधिकरण्यमेव परित्यक्तं स्यात्; द्वयोः पदयोर्लक्षणा च। "सोऽयं देवदत्तः" इत्यत्रापि न लक्षणा—भूतवर्त्तमानकाल-सम्वन्धतयैक्यप्रतीत्यविरोधात्। देशभेदाविरोधश्च कालभेदेन परिहृतः। "तदैक्षत बहु स्याम्" (छाः उः ६ । २ । ३) इत्युपक्रमाविरोधश्च। एकविज्ञानेन सर्व्वविज्ञानप्रतिज्ञानञ्च न घटते।

"ज्ञानस्वरूपस्य निरस्तनिखिलदोषस्य सर्व्वज्ञस्य समस्त-कल्याणगुणात्मकस्याज्ञानं तत्कार्य्यानन्तापुरुषार्थाश्रयत्वञ्च भवति। बाधार्थत्वे च सामानाधिकरण्यस्य त्वंतत्पदयोरधिष्ठान-लक्षणा निवृत्तिलक्षणा चेति लक्षणादयस्त एव दोषाः।

इयांस्तु विशेषः—नेदं रजतमितिवदप्रतिपन्नस्यैव बाधस्या-

गत्या परिकल्पनम्—तत्पदेनाधिष्ठानातिरेकिधर्म्मानुपस्थापनेन वाधानुपपत्तिश्च । अधिष्ठानन्तु प्राक्तिरोहितमतिरोहितस्वरूपं तत्पदेनोपस्थाप्यत इति चेत्, न, प्रागधिष्ठानाप्रकाशे तदाश्रयभ्रमबाधयोरसम्भवात् । भ्रमाश्रयमधिष्ठानमतिरोहितमिति चेत् तदेवाधिष्ठानस्वरूपं भ्रमविरोधीति तत्प्रकाशे सुतरां न तदाश्रयभ्रमवाधौ ।

"अतोऽधिष्ठानातिरेकिपारमार्थिकधर्म्मतत्तिरोधानानभ्युपगमे भ्रान्तिवाधौ दुरुपपादौ । अधिष्ठाने हि पुरुषमात्राकारे प्रतीयमाने तदतिरेकिणि पारमार्थिके राजत्वे तिरोहिते सत्येव वाधत्वभ्रमः; राजत्वोपदेशेन च तन्निवृत्तिर्भवति; नाधिष्ठानमात्रोपदेशेन; तस्य प्रकाशमानत्वेनानुपदेश्यत्वात्, भ्रमानुपमर्दित्वाच्च ।" [श्रीभाष्य वें को १ खं ६४-६५ पृः] तस्माद्भेदवादः सङ्गच्छते ।

"भेदाभेदवादे तु ब्रह्मण्येवोपाधि-संसर्गात्तत्प्रयुक्ता जीवगतदोषा ब्रह्मण्येव प्रादुःष्युरिति निरस्तानिखिलदोषकल्याणगुणात्मकब्रह्मात्मभावोपदेशा हि विरोधादेव परित्यक्ताः स्युः । स्वाभाविकभेदाभेदवादेऽपि ब्रह्मणः स्वत एव जीवभावाभ्युपगमात् गुणवद्दोषाश्च स्वाभाविका भवेयुरिति निर्दोषब्रह्मतादात्म्योपदेशो विरुद्ध एव । केवलभेदवादिनां चात्यन्तभिन्नयोः केनापि प्रकारेणैक्यासम्भादेव ब्रह्मात्मभावोपदेशा न सम्भवन्तीति सर्व्ववेदान्तपरित्यागः स्यात् । निखिलोपनिषत्प्रसिद्धं कृत्स्नस्य ब्रह्मशरीरभावमातिष्ठमानैः कृत्स्नस्य ब्रह्मात्मभावोपदेशाः सर्व्वे सम्यगुपपादिता भवन्ति । जातिगुणयोरिव द्रव्याणामपि शरीरभावेन विशेषणत्वेन "गौरश्वो मनुष्यो देवो जातः पुरुषः कर्म्मभिः" इति सामानाधिकरण्यं लोकवेदयोर्म्मुख्यमेव दृष्टचरम् । जातिगुणयोरपि द्रव्यप्रकारत्वमेव "षण्डो गौः शुक्लः पटः" इति सामानाधिकरण्यनिबन्धनम् । मनुष्यत्वादिविशिष्टपिण्डानामप्यात्मनः

प्रकारतयैव पदार्थत्वात् "मनुष्यः पुरुषः षण्डो योषिदात्मा जातः" इति सामानाधिकरण्यं सर्व्वत्रानुगतमिति प्रकारत्वमेव सामानाधिकरण्य-निबन्धनम्। न परस्परव्यावृत्ता जात्यादयः। स्वनिष्ठानामेव हि द्रव्याणां कदाचित् क्वचित् द्रव्यविशेषणत्वे मत्वर्थीयप्रत्ययो दृष्टः—"दण्डी कुण्डली" इति। न पृथक्प्रतिपत्तिस्थित्यनर्हाणां द्रव्याणाम्; तेषां विशेषणत्वं सामानाधिकरण्यावसेयमेव। न हि नियमेन गोत्वादिवत् आत्माश्रयतयैवात्मना सह मनुष्यादिशरीरं पश्यन्ति। अतो मनुष्य आत्मेति सामानाधिकरण्यं लाक्षणिकमेव। नैतदेवम्। मनुष्यादिशरीराणामप्यात्मैकाश्रयत्वम्, तदेकप्रयोजनत्वं, तत्प्रकारत्वं च जात्यादितुल्यम्। आत्मैकाश्रयत्वमात्मविश्लेषे शरीरविनाशादवगम्यते। आत्मैकप्रयोजनत्वञ्च तत्कर्म्मफलभोगार्थतयैव सद्भावात्। तत्प्रकारत्वमपि 'देवो मनुष्यः' इत्यात्मविशेषणतयैव प्रतीतेः। एतदेव हि गवादिशब्दानां व्यक्तिपर्य्यन्तत्वे हेतुः। एतत्स्वभावविरहादेव दण्डकुण्डलादीनां विशेषणत्वे दण्डी कुण्डली इति मत्वर्थीयप्रत्ययः।" [श्रीभाः वें कों १ ख ९७–९८ पृः]

न च शरीरं चाक्षुष इत्यात्मप्रकारत्वं जातिव्यक्त्यादिवत्तस्य न सम्भवतीति वाच्यम्; तदेकाश्रयत्वादिभावादेव। यथा चक्षुषा पृथिव्यादेः स्वाभाविकमपि गन्धादिकं सामर्थ्याभावादेव न गृह्यते तथात्मापि। नैतावता शरीरस्य तत्प्रकारत्वस्वभावविरहः।

"ननु च शाब्देऽपि व्यवहारे शरीरशब्देन शरीरमात्रं गृह्यते" इति नात्मपर्य्यन्तता शरीरशब्दस्य। नैवम्। आत्मप्रकारभूतस्यैव शरीरस्य पदार्थ-विवेक-प्रदर्शनाय निरूपणान्निष्कर्षकशब्दोऽयम्। यथा 'गोत्वं शुक्लत्वमाकृतिगुणः' इत्यादिशब्दाः। अतो गवादिशब्दवद्देवमनुष्यादिशब्दा आत्मपर्य्यन्ताः। एवं देवमनुष्यादिपिण्डविशिष्टानां जीवानां परमात्मशरीरतया तत्प्रकारत्वात

जीवात्मवाचिनः शब्दाः परमात्मपर्य्यन्ताः ।"[श्रीभाष्य वें को १ खं पृः ६८-६६]

चिदचिद्वस्तुशरीरत्वं च ब्रह्मणो "यस्य पृथिवी शरीरं यस्यापः शरीरम्" [वृः आः ३ । ७ । ३] इत्यादिषु श्रुतिशतेषु प्रसिद्धम् । सत्यपि तच्छरीरत्वेऽविद्याशक्तिमयत्वात् परमात्मनस्तद्धर्म्मस्पृष्टत्वं तु न स्यात । तदेवं "तत्त्वमसि" इत्यत्र "जीवशरीरक-जगत्-कारणब्रह्मपरत्वे मुख्यवृत्तं पदद्वयम । प्रकारद्वयविशिष्टैकवस्तुप्रतिपादनेन सामानाधिकरण्यं च सिद्धम [श्रीभाष्य वें को १ खं पृः ६५] । तत्तद्विशेषणविशिष्टतयैव सामानाधिकरण्यञ्च आरुणयैकहायन्याविङ्गाक्षेत्यादावङ्गीकृतम् । लोके च "नीलमुत्पलमानय" इत्यादौ दृश्यते । तदेवञ्च निरस्तनिखिलदोषस्य समस्तकल्याणगुणात्मकस्य ब्रह्मणो जीवान्तर्यामित्वमप्यैश्वर्य्यमपरं प्रतिपादितं भवति । उपक्रमानुकूलता च ; एकविज्ञानेन सर्व्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपत्तिश्च—सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरस्यैव ब्रह्मणः स्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरत्वेन कार्य्यत्वात् । [श्रीभाष्य वें को १ खं पृः ६५]

कार्य्यकारणयोरनन्यत्वात स्थूलचिदप्यत्र आध्यात्मिकावस्थो जीवः । तथा "तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्" [श्वेताश्व ६ । ७]; "परास्य शक्तिर्व्विविधैव श्रूयते" [श्वेताश्व ६ । ८]; "अपहतपाप्मा सत्यकामः" [छाः उः ८ । १ । ६] इत्याद्यविरोधश्च । "तत्त्वमसि" इत्यत्रोद्देश्योपादेय-विभागः कथमिति चेत् ; नात्र किञ्चिदुद्दिश्य किमपि विधीयते ; "ऐतादात्म्यमिदं सर्व्वम्" [छाः उः ६ । ८ । ६७] इत्यनेनैव प्राप्तत्वात् । अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत् । "इदं सर्व्वम्" इति सजीवं जगन्निर्द्दिश्य—"ऐतादात्म्यम्" इति तस्यैव आत्मेति तत्र प्रतिपादितम् । तत्र हेतुरुक्तः—"सन्मूला सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" [छाः

उ: ६ । ८ । ४] इति । "सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त:" [छा: उ: ३ । १४ । १] इतिवत् । तथा श्रुत्यन्तराणि च ब्रह्मण-स्तद्व्यतिरिक्तस्य चिदचिद्वस्तुनश्च शरीरात्मभावमेव तादात्म्यं वदन्ति,—"अन्त: प्रविष्ट: शास्ता जनानां सर्व्वात्मा" "य: पृथिव्यां तिष्ठन्" [बृ: आ: ३ । ११ । २०] इत्यादिकं "य आत्मनि तिष्ठन्" [बृ: आ: ५ । ७ । २२] इत्यादिकञ्चारभ्य "यस्य मृत्यु: शरीरं, यं मृत्युर्न वेद, एष सर्व्वभूतान्तरात्माप-हतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायण:" [सुबालोपनिषदि ७] "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्" [तै: आर ६ । २] इत्यादीनि" [श्रीभाष्य वे' को: १ख' ६६ पृ:]

अतएव "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" [ब्रह्म सू: ४ । १ । ३] इति सूत्रकार: । "आत्मेत्येव तु गृह्णीयात्" इति च वाक्यकार: । अत्रापि "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" [छा: उ: ६ । ३ । २] इति ब्रह्मात्मकजीवानु प्रवेशेनैव सर्व्वेषां वस्तुत्वं शब्दवाच्यत्वञ्च प्रतिपादितम । "तद-नुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत" [तै: आर ६ । २] इत्यनेनैकार्थ्या-ज्जीवस्यापि ब्रह्मात्मकत्वं ब्रह्मानुप्रवेशादेवेत्यवगम्यते ।

तस्माद् ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य तत्शरीरत्वेनैव वस्तुत्वात् तस्य प्रतिपादकोऽपि शब्दस्तत्पर्य्यन्तमेव स्वार्थमभिदधाति । अत: सर्व्वशब्दानां लोकव्युत्पत्त्यवगततत्पदार्थविशिष्टब्रह्माभिधा-यित्वं सिद्धमिति "ऐतदात्म्यमिदं सर्व्वम्" इति प्रतिज्ञातार्थस्य "तत्त्वमसि" इति सामानाधिकरण्येन विशेष उपसंहार: (श्री-भाष्य वे' को' १ ख' पृ: ६६) ।

मध्यमपुरुषस्तु युष्मच्छब्दयोगेन स्यादेवेति ।

अथ सप्त पञ्चाशत्तमवाक्यव्याख्यान्ते—"पूर्व्वं मायासृष्टे इत्युक्तम्" इत्यत्र सृष्टिप्रकरणे एवं विवेचनीयम् ।

तत्र विवर्त्तवादिनो वदन्ति—स्थूलसूक्ष्माख्यमिदं जगद्-विद्याकल्पितमेव। यतोऽनादिसिद्धेनाविद्यादिपर्य्यायेणाज्ञानेन जीवस्य विषयीभूतं ब्रह्म जगद्रूपेण विवर्त्तते। शुक्तिरजतरूपेण विवर्त्तश्चाविकृतस्यैव सतोऽविद्यया रूपान्तरापत्तिः। अविद्या-पर्य्यायमज्ञानञ्च मिथ्याज्ञानमिति।

अत्रान्ये मन्यन्ते—न तावद्रूपान्तरापत्तिः, स्वतस्तदभावात्; किन्तु तदेवमिति स्मरणमेव। तदुक्तम्— "कोऽयमध्यासो नाम? उच्यते—स्मृतिरूपः परत्र पूर्व्वदृष्टावभासः" [शाङ्करभाष्य उपक्रमणिकायाम्] इति।

ततः स्मर्य्यमाणस्य दृश्यमानाभिन्नत्वेन जगतो ब्रह्मोपादानत्वं तदनन्यत्वं वा घटमानं स्यात्। किमन्यद्वा? ब्रह्मण्यज्ञानं न सम्भवतीति पूर्व्वमेवोक्तम्। तथाच सति ततः पृथक् द्वैतं केन कल्प्येत? यदि च जीवत्वादिकल्पनानिमित्तमज्ञानं ब्रह्माश्रयं स्यात्तदा देवदत्तवदज्ञानतत्कार्य्यदुःखादिभिर्ब्रह्मैव पीड्येतैवेति नापहत-पाप्मत्वं तस्य स्यात्।

किञ्चाज्ञानं नामान्यथाज्ञानम्; तच्च सविशेषादेव ज्ञानान्तरा-दनन्तरं स्वयमपि सविशेषं जायते। शुक्लत्वादिविशेषे हि बुद्धा-वध्यारूढे रजतभानात्।

सविशेषञ्च ज्ञानं न कदापि शुद्धं ब्रह्म विषयीकरोतीति सम्प्रतिपन्नम्। तर्हि कथमज्ञानेन तद्विवर्त्तनाम? सर्पगन्ध इव केतकीगन्ध इत्यादावपि केनचिदौग्रयशैत्यादिवैशिष्ट्येनैव साम्यं मन्तव्यम्। किञ्च तदन्यथाज्ञानमन्यस्य सद्भावेऽसद्भावे वा? सद्भावे स्वतः सिद्धमेव द्वैतं; किं कल्पनान्तरेण? असद्भावे दृष्टिन खपुष्पभ्रमापत्तिः स्यात्।

अथाज्ञानं जगच्च परम्परयानादिसिद्धम्। तेन पूर्व्वपूर्व्वजग-दुत्तरोत्तराज्ञानस्य कारणं भविष्यति। संस्कारजन्यो भ्रमः पूर्व्व-

प्रतीतिमात्रमपेक्षते ; प्रतीतौ सत्यां भ्रमव्यतिरेकादर्शनात्। तदसत्,—अज्ञानेन जगत जगताज्ञानमिति परस्पराश्रयादिप्रसङ्गात्। नैवम् अनादित्वाद् युज्यते दोष इति चेत् न, बक्ष्यमाणान्धपरम्परादोषात् । यथाद्वैतशारीरककृतैव केवलाधिष्ठात्रीश्वरमतं दूषयतोक्तम्।

वर्त्तमानकार्य्यवदतीतेष्वपि कार्य्येष्वितरेतराश्रयदोषाविशेषादन्धपरम्परान्यायापत्तेरिति। न तु क्वचित्तथा दृश्यते। स्वतः सिद्धस्यैव रजतस्यान्यत्र भानप्रसिद्धेः तथाचान्यथानुमीयते। विमता जगत्परम्परा न भ्रमसिद्धा। अनादित एव पूर्व्वपूर्व्वभ्रमावभासिततन्मात्रारोपेणैव तथाङ्गीकर्त्तु शक्यत्वे न प्रसिद्धभ्रमसिद्धशुक्तिरजतवैलक्षण्यात् ।

यन्नैवं तन्नैवं यथा रज्जुसर्पादयः। ततो विपक्षानुमितावुपाधिरेव पर्य्यवसितः। किञ्च जगदिदं कुत्रापि स्वतः सिद्धस्यैव जगदन्तरस्यारोपेण ब्रह्मणि स्फुरितं भ्रमजन्यत्वात्। यदेवं तदेवं यथा शुक्तौ रजतमिति तुष्यतुन्यायेण तथाङ्गीकारेऽपि जगदन्तरे सत्यत्वेन साधिते तत्सम्प्रतिपत्तिभङ्गादिदमेव सत्यत्वेन साधितम्भवति। किञ्च स्वप्नानुभववद्रजतानुभवस्याप्युत्तरकालेऽप्यनुवर्त्तमानत्वेनाव्यभिचारित्वादद्वैतप्रतिपत्तिस्तु कदाचिदपि न स्यादेव। पीतशङ्खादौ तु काचकामलादिदोषा न भ्रमकल्पिता इति तेषामपि सम्मतम्। तदेवं जाग्रत्सृष्टिर्यथेश्वरकृतत्वेन न जीवाज्ञानमात्रकल्पिता तद्वत् स्वप्नसृष्टिरपि भवेदितीश्वरवादिनामनुमानम्।

"सन्ध्ये सृष्टिराह हि" [ब्रह्म सूः ३।२।१] इति "निर्म्मातारं चैके पुत्रादयश्च" [ब्रह्म सूः ३।२।२] इतिन्यायाभ्यां जागरवत पारमेश्वरसृष्टित्वात्। तत्र देशकालनिमित्तादीनां क्वचिदसम्भवेऽपि "मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्"

[ब्रह्म सू ३ । २ । ३] इतिन्यायेन दुर्घटनघटनाकर-माया नाम परमात्मशक्तिविलासत्वात । "सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः" [ब्रह्म सूः ३ । २ । ४] इतिन्यायेन भाविसत्यार्थसूचकत्वे क्वचिदोषधमन्त्रादिप्राप्तिदर्शनेन सूचकसत्यत्वे च सिद्धे सत्यता-प्रत्ययनात् । "पुरुषं कृष्णदन्तं पश्यति स चैनं हन्ति" इति साक्षात् स्वप्नद्रष्टकर्त्तृकहननश्रवणाच्च ।

"पराभिधानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्य्ययौ" [ब्रह्म सूः ३ । २ । ५] इतिन्यायेन तत्र जीवस्यासामर्थ्यादत एव कर्त्तृ-श्रुतेर्भाक्तत्वात् स्वप्नसृष्टिरपि जागरवत् पारमेश्वरी सत्या चेति च तेषां श्रौतमतम् । श्रीरामानुजचरणाश्चैवमाहुः—"स्वप्ने च प्राणिनां पुण्यपापानुगुणं भगवतैव तत्तत्पुरुषमात्रानुभाव्याः तत्तत्कालावसानाः तथाभूताश्चार्थाः सृज्यन्ते । तथाच स्वप्न-विषया श्रुतिः—

"न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति । अथ रथा-न्रथयोगान् पथः सृजते" [वृः आः ६ । ३ । १०] इत्यारभ्य "स हि कर्त्ता" [वृः आः ६ । ३ । १०] इत्यन्ता । यद्यपि सकलेतर-पुरुषानुभाव्यतया तदानीं न भवन्ति तथापि तत्तत्पुरुषमात्रा-नुभाव्यतया तथाविधानर्थान् ईश्वरः सृजति । स हि कर्त्ता, तस्य सत्यसङ्कल्पस्याश्चर्य्यशक्तेस्तादृशं कर्त्तृत्वं सम्भवतीत्यर्थः ।

"य एष सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्म्मिमाणः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्व्वे तदु नात्येति कश्चन"

[कठ उः २ । ५८]

इति च । सूत्रकारोऽपि "मायामात्रन्तु कार्त्स्न्येन" [ब्रह्म सूः ३ । २ । ३] इत्यादिना जीवस्य कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूप-त्वादीश्वरस्यैव सत्यसङ्कल्पशक्तिविलासमात्रमिदं स्वाप्निकवस्तु

ज्ञातमिति व्याचष्टे । "तस्मिन् लोकाः" इत्यादिश्रुतेः । अपवरकादिषु शयानस्य स्वप्नदृशः स्वदेहेनैव देशान्तरगमनराज्याभिषेक-शिरश्छेदादयश्च पुण्यपापफलभूताः शयानदेहसरूपसंस्थानं देहान्तरसृष्ट्योपपद्यन्ते" [श्रीभाः वें कों १ खं ८४-८५ पृः] इति । युक्ता च परमात्मन एव स्वप्नसृष्टिः । जाग्रत्स्वप्नादिभेदाखिलस्यैव प्रपञ्चस्य जन्मादिकर्त्तृत्वेनौत्सर्गिकसिद्धेः ।

येषां वा मते स्वसङ्कल्पमात्रमूर्त्तयः स्वप्नपदार्थास्तन्मताभ्युपगमवादेनापि सूत्रकृता "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" [ब्रह्म सूः २ । २ । २९] इत्यनेन जाग्रत्पदार्था न दृष्टान्तसाध्यान्यथाभावा इति व्याख्यातम् । एवं "नैकस्मिन्नसम्भवात्" [ब्रह्म सूः २ । २ । ३१] इत्यनेन जगतोऽपि युगपत् सत्त्वासत्त्वाभ्यामानिर्व्वचनीयत्वञ्च निषिद्धम् । किञ्च यदि सर्व्वमेव द्वैतजातं जीवाज्ञानकल्पितं स्यात् जीवस्वरूपञ्च न ब्रह्मणोऽन्यत्, ततो वस्तुतः सर्व्वज्ञाद्यभिमानी कश्चिदीश्वरा नामान्यो नास्ति । किन्तु स्थाणौ पुरुषवत् स्वस्वरूप एवेश्वरः कल्प्यते ; स्वाप्निकराजवद्वा । तर्हि स्थाणुपुरुषादिवदीश्वराभिमानिनस्तदानीमप्यभावात् । तदा तस्य जीवागोचरत्वेन पुरुषाज्ञानकल्प्यमानत्वस्याप्यदर्शनादनुमानसिद्धत्वात् सम्प्रतिपत्तेः, शास्त्रैकगम्यत्वाभ्युपगमाच्च, यानि "जन्माद्यस्य यतः" [ब्रह्म सूः १ । १ । २] इत्यादीनि सूत्राणि, यानि च तद्विषयवाक्यानि तानि प्रलापरूपाण्येव स्युः ।

तत्र तत्र सर्व्वज्ञत्वसर्व्वशक्तित्वे बिना जीवप्रधानयोर्व्विचित्रस्रष्टृत्वादिकं न सम्भवतीति दर्शिता युक्तयश्चोपहस्येरन् ।

तथा यदि जीवाज्ञानेनैव भेदोत्पत्तिः स्यात्तदा "इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः" [ब्रह्म सूः २ । १ । २१] इति जीवकर्त्तृकस्रष्टौ दोषारोपोऽपि न घटते ।

तत्र "अधिकन्तु भेदनिर्द्देशात्" [ब्रह्म सूः २ । १ । २२]

इति सिद्धान्तसूत्रमप्ययार्थमेव स्यात्—"संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्व्वत उपदेशात्" [ब्रह्म सू: २ । ४ । १७] इत्येष न्यायस्तु जीवाकर्त्तृकत्वं स्थापयति । तथा तन्मत एव "जगद्वाचित्वात्" [ब्रह्म सू: १ । ४ । ११] इत्यादयश्च ।

"एष सर्वेश्वर एष सेतुर्व्विधारण एषां लोकानां सम्भेदाय" [वृ: आ: उ: ४ । ४ । २२] इति ।

"ईश्वरः सर्व्वभूतानां हृद्देशेऽर्ज्जुन तिष्ठति" [गीता १८ । ६०] इत्यादिषु तु जीवाज्ञानप्रवर्त्तकत्वेन प्रसिद्धो यश्चेश्वरस्तस्य जीवाज्ञानकल्पितत्वमयुक्तमेव । किञ्च भेदमात्रस्य स्वाज्ञानकल्पितत्वेन शास्त्रस्यापि तथात्वे सति स्वप्नजस्वप्रतारिदवत् तस्मात् यथार्थज्ञानोत्पत्तेरसद्भावनया न तत्र कश्चित् प्रवर्त्तेत ततः स्वप्नप्रलापविश्वासात् स्वोत्प्रेक्षित-तर्कविश्वास एव वरमिति वेदोच्छेदप्रसङ्गः, तर्काप्रतिष्ठानादनिर्म्मोक्षप्रसङ्गश्च इत्यलमितिविस्तरेण ।

तदेवं न विवर्त्तविकाश इति परिणाम एव शिष्यते । तस्य च लक्षणं "तत्त्वतोऽन्यथाभावः परिणामः" इति "उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि" (ब्रह्म सूत्र: २ । १ । २४) इति "देवादिवदपि लोके" (ब्रह्म सू: २ । १ । २५) इत्यादिषु सूत्रेषु तन्मतव्याख्यानेऽपि स एव हि दृश्यते । पुनश्च तदनन्तरमेव "कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा" (ब्रह्म सू: २ । १ । २६) इत्यनेन स्थूणावर्त्तमेव परिणामं चालयित्वा "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" (ब्रह्म सू: २ । १ । २७) इत्यनेन स्थापयति । "भगवानिति" च दृश्यते ।

तत्र पूर्व्वस्यार्थः—"निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्" (श्वेताश्व ६ । १९) इत्यादिषु "ब्रह्मणो निरवयवत्वेन प्रसिद्धत्वादेकदेशासम्भवे सति कृत्स्नस्यैव परिणामे प्रसक्ते मूलोच्छेदः प्रसज्येत । द्रष्टव्यतोपदेशानर्थक्यञ्च । अजत्वादिशब्दकोपश्च । सावयवत्वे च

मन्यमाने निरवयवत्वशब्दा व्याकुप्येयुः। अनित्यत्वप्रसङ्गश्चेति ॥ अथोत्तरस्यार्थः। तुशब्देन पूर्व्वपक्षं परिहरति। न खल्वस्मत्पक्षे कश्चिद्दोषः"। श्रुतिसिद्धान्तिनो हि वयम्। श्रुतिश्च स्वशब्दैरेव यदुच्यते तदेव मूलत्वेन वहति नतु तर्केण यत् सेत्स्यति। अपौरुषेयत्वेन स्वतः प्रामाण्यात् परमालौकिकवस्तुप्रतिपादनपरत्वाच्च। तथाच पौराणिकाः पठन्ति—

"अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्" इति ॥

श्रुतिश्च—"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति" [कठ उः ८। १] इति।

"न चक्षुर्न श्रोत्रं न तर्को न स्मृतिर्न वेदो ह्येवैनं वेदयति" इति "उपनिषदं पुरुषं" [वृ आः उः ३। ६। २६] इति च। इदन्तत्त्वसन्दर्भे च विस्तारितमस्ति। तस्मान्निरवयवत्वेऽपि न कृत्स्नप्रसक्तिः। यथैव हि ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिः श्रूयते तथा विकारव्यतिरेकेणापि ब्रह्मणोऽवस्थानं श्रूयते।

"अजायमानो बहुधा विजायते" इत्यादौ दृश्यते च।

मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणेषु देवादिभ्योऽप्यविकृतेभ्य एवैश्वर्य्ययोगविशेषात् वहूनि नानासंस्थानानि शरीराणि प्रासादादीनि रथादीनि च जायन्त इति च। न चान्यदुपादानानि तानि मन्तव्यानि। दृष्टं सन्निहितं परित्यज्यादृष्टासन्निहितकल्पनागौरवापत्तेः।

अतएवोक्तम् - "देवादिवदपि लोके" [ब्रह्म सूः २। १। २५] इति। शरीरमेव ह्यचेतनं देवादीनां शरीरादिविभूत्यादेरुपादानमिति शङ्करशारीरकभाष्ये लिखितम्, अतएव तानि मायिकानीति च न मन्तव्यानि। तैः स्वस्यैव विहाराय क्रियमाणत्वाच्च।

मायिनां हि स्वमायारचितानि मिथ्यैव स्फुरन्तीति तस्मै तत्सृष्टि-रयुक्ता स्यात्।

शङ्करशारीरकेऽपि "आत्मनि चैवम्" [ब्रह्म सू: २ । १ । २८] इत्यत्र सूत्रे देवादिषु मायाव्यादिषु इति मायाव्यादिभ्यो देवादयः पृथक् पठितास्तस्माद्देवादिवदचिन्त्यशक्त्या विकार-रहितस्यैव परिणामः । प्रसिद्धिश्च लोकशास्त्रयोः चिन्तामणिः स्वयमविकृत एव नानाद्रव्याणि प्रसूते इति ।

नन्वित्थं केनचिद्रूपेण परिणमेत् केनचिदवतिष्ठतेति रूपभेद-कल्पनात् सावयवमेव प्रसज्यते [पूः पः]। तत्राप्याह—भवत्वि-दमपि यतः "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" [ब्रह्म सू: २ । १ । २७] इति निरवयवत्वसावयवत्वयोर्व्विरुद्धयोरपि धर्म्मयोः श्रूय-माणत्वात् । तथैवमप्यचिन्त्यः स्वभावस्तस्मिन् वर्त्तत एवेति । यथा "निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्" इत्यादि "तदेतद् ब्रह्म चतु-ष्पादष्टादशकलं षोड़शकलम" [छा: उ: १३ । १८ । २] इत्यादि च । इत्थमेव चाग्रे 'विकरणत्वान्नेति चेत तदुक्तम्" [ब्रह्म सू: २ । १ । ३१] इत्यत्र सूत्रकारस्तदुक्तमित्यनेन "न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते" [श्वेताश्व ६ । ८] इत्यादिप्रमाणकं करणराहित्यं स्वा-भाविकज्ञानादिकञ्च व्यक्तवान्। एवमेव पैङ्गीश्रुतिरप्युदाहृता— "योऽसौ विरुद्धोऽविरुद्धः" इत्यादिका । पुराणञ्च—"यस्मिन् ब्रह्मणि सर्व्वशक्तिनिलये मानानि नो मानिनाम्" इति ।

न चेत्थं सावयवत्वे नानित्यत्वं मन्तव्यम—तादृशवैलक्ष-ण्यात् सर्व्वकारणत्वात् श्रुतिशब्दमूलादेव नित्यत्वाच्च । तदुक्तं माध्वभाष्ये । "सम्बन्धानुपपत्तेश्च" [ब्रह्म सू: २ । २ । ३८] इत्यत्र । विष्णोस्तु श्रुत्यैव सर्व्वे विरोधाः परिहृताः । "यदात्मको भगवांस्तदात्मिका व्यक्तिः" इत्यादि "वुद्धिमत्वां भगवतो लक्ष-यामहे" इत्यादि, "सदेहः सुगन्धश्च" इत्यादिकया ।

तस्मादचिन्त्यया शक्त्या निरवयवं सावयवञ्च ब्रह्म तयैव परिणाममानमपि निर्व्विकारमेव तिष्ठतीति श्रौतसिद्धान्तः। तस्मात् "तत्त्वतोऽन्यथाभावः परिणामः" इत्येव लक्षणं, न तु तत्त्वस्येति। दृश्यते चापि मणिमन्त्रमहौषधिप्रभृतीनां तर्कालभ्यं शास्त्रैकगम्यमचिन्त्यशक्तित्वम्। तस्मान्नासम्भावनीयमपि। तथाच सर्व्वेषामेवाचिन्त्यशक्तिकजगद्वस्तूनां मूलकारणस्य तस्याविचिन्त्यशक्तित्वे सुतरामेव लब्धे श्रुतिदृष्टयुगपद्विकाराविकारादीनां साधनाय तादृशशक्तिहीनानां शुक्त्यादीनामिव विवर्त्तः समाश्रयितुमयुक्त एव। तथोक्तं शाङ्करशारीरकेऽपि "पत्युरसामञ्जस्यात्" इत्यधिकरणे "आगमवलेन ब्रह्मवादी कारणादिस्वरूपं निरूपयति। "नावश्यन्तस्य यथादृष्टं सर्व्वमभ्युपगन्तव्यम्" [ब्रह्म सूः २। २। ३८] इति। सर्व्वतोऽप्याश्चर्य्यशक्तित्वं तस्य तदनन्तरसूत्रे "आत्मनि चैवं विचित्राश्च" [ब्रह्मसूत्रम् २। १। २८] इत्यत्र श्रीमध्वाचार्य्यैरुदाहृतम्—

"विचित्रशक्तिः पुरुषः पुराणो
न चान्येषां शक्तयस्तादृशाः स्युः।
एको वशी सर्व्वभूतान्तरात्मा
सर्व्वान् देवानेक एवानुविष्टः॥" इति

श्वेताश्वतरोपनिषदीति। ततश्चसूत्रकारेणापि शास्त्रैकगम्यत्वमेवाङ्गीकुर्व्वता शुक्तिरजतवत् पुरुषदृष्टयवगम्यत्वं निराकृत्य प्रकरणसिद्धं परिणाम एव दृढ़ीकृतः।

दृश्यते च "एथोर्णनाभिः सृजते" [मुण्डक उः १। १। ७] इत्यादिषु बहुष्वेव परिणामप्रक्रियैव।

"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" [वृः आः उः २। ५। १९] इत्यत्रापि मायाशब्दस्य शक्तिमात्रवाच्यत्वान्न दोषः। न च परिणामप्रतिपादने फलं नास्तीति वाच्यम्। परमात्मनस्तादृशमहिम-

ज्ञानोत्थभक्त्या एव परमपुरुषार्थतासम्प्रतिपत्तेः। "यं वै देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च" [नृसिंह पूः भाः २। ४] इत्यादौ।

तस्मात् परमात्मपरिणाम एव शास्त्रसिद्धान्त इति । तदेतं संक्षेपेण दर्शितं तत्रेत्यादिना। अत्र परिणामवादे सोपपत्तिका च श्रुतिरवलोक्यते—

"वाचारम्भणं बिकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम ।"

[छाः उः ६ । १ । ४] इति ।

अयमर्थः—बाचया वाचा आरम्भणमारम्भो यस्य तत् । बाचया आरभ्यते यत्तादिति वा। यत्किञ्चिद्वाचारम्भणम्वाच्यम् तत् सर्व्वमेब दण्डादीनामप्यन्यत्र सिद्धत्वात् ।

'विकारो नामधेयं' बिकार एव नामैव नामधेयं स्वार्थे धेयट् । स च घटादिर्व्विकारो मृत्तिकैव। मृत्तिकादिकमेव दण्डादिना निमित्तेनाविभूताकारबिशेषं घटादिव्यवहारमापद्यत इति। ततो न पृथगित्यर्थः। इत्येव सत्यमिति । न तु शुक्तिरजतादिवद्विवर्त्तः। नतुवा शुक्तेः सकाशात स्वतोऽन्यत्र सिद्धं रजतमिव भिन्नमित्यर्थः। वाक्यान्तोपदिष्टस्येतिशब्दस्य समुदायान्वयित्वात्, कथमसतः सज्जायेतेत्यादिबत्। अत्रापि श्रुत्यैवेतरमताक्षेपः । तदेवम् 'इति' शब्दस्यापि सार्थकता ; न तु मृत्तिकैव तु सत्यमिति व्याख्यानं, न ह्यत्र विकारत्वे कारणाभिन्नत्वे च विधेये बाक्यभेदः। प्रथमस्यानुवादेन द्वितीयस्य बिधानात् । ततश्चानुवादेनापि सिद्धविधेयत्वावधारणादुभयत्र मुख्यैव प्रतिपत्तिरिति। अत्र मृत्तिकाशब्देनेदं लभ्यते—यथा सर्व्वतोऽपि कार्य्यकारणपरम्परातोऽर्वाक् चेतनसर्व्वोपलभ्यमानत्वस्य मृण्मयस्य तद्विकारत्वमेव प्रत्यक्षीक्रियते—न तु तद्विवर्त्तत्वम्; तथा तत्प्राक्सृष्टानां मृदादिवस्तूनामनुमेयम् ।

इत्थमेवोक्तमेतत्प्रकारकारकमेव सत्यमिति ।

अत्र बिकारादिशब्दस्य साक्षादेवावस्थितत्वाद्विवर्त्तो तात्पर्य्य-व्याख्यानं कष्टमेवेत्यप्यनुसन्धेयम्। तदेव सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुरूप-शुद्धजीबाव्यक्तशक्तेरेव तस्य कारणत्वादित्येतदनुक्तम्।

यतः "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" [छाः उः ६ । २ । १] इत्यत्रापि इदमा तत्तच्छक्तिमत्त्वं स्पष्टम्, प्रागप्यस्तित्वेन निर्द्दिष्टं कारणत्वं साधयितुम्। अतो भगवदुपादानत्वेऽपि सङ्घातस्यो-पादानत्वेन चिदचितोर्भगवतश्च स्वभावासङ्करः। यथा लोके शुक्लत्वं तु सङ्घातोपादानत्वेऽपि चित्रपटस्य तत्तान्तुप्रदेश एव शौक्लादिसम्बन्ध इति कार्य्यावस्थायामपि न वर्ण-सङ्करः। तथा चिदचिद्भगवत्सङ्घातोपादानत्वेन कार्य्यावस्थायामपि भोक्तृत्व-भोग्यत्वनियन्तृत्वनियम्यत्वाद्यसङ्करः।

अतः "सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्" [छाः उः ३ । १४ । १] इत्यादिकमविरुद्धम्। तदेतदेवोक्तम् सूत्रकारेण "भोक्त्रापत्तेरवि-भागश्चेत् स्याल्लोकवत्" [ब्रह्म सूः २ । १ । १३] इति ।

अतः कार्य्यावस्थः कारणावस्थश्च स्थूलसूक्ष्मचिदचिद्वस्तु-शक्तिः परमपुरुष एव,—कारणात् कार्य्यस्यानन्यत्वात्।

अनन्यत्वञ्च वाचारम्भणमित्यादिभिः सिद्धम्। तथाहि— एकविज्ञानेन सर्व्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय दृष्टान्तापेक्षायामुच्यते। यथा—"सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्व्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्। वाचारम्भणमित्यादि" [छाः उः ६ । १ । ४]।

एकस्यैव सङ्कोचावस्थायां कारणत्वं,—विकाशावस्थायां कार्य्यत्वमिति। विकारोऽपि मृत्तिकैव। ततः कारणविज्ञानेन कार्य्य-विज्ञानमन्तर्भाव्यत इत्येवं परमकारणे परमात्मन्यपि ज्ञेयम्। तदेतदारम्भणशब्दलब्धमनन्यत्वमेव—

"ऐतदात्म्यमिदं सर्व्वम्" [छाः उः ६ । ८ । ७] इत्यादि-

शब्दा अपि बदन्ति । "मृत्योः स मृत्युम्" [बृः आः उः ४ । ४ । १९] इत्यादिवञ्च सङ्गतमेव । तदेवं कारणस्यैव धर्म्मविशेषः कार्य्यत्वं न तु पृथक् तदस्ति ।

तस्य कारणनैरपेक्ष्येणानवस्थानादिति पुनर्द्दर्शयति—"अपागादग्नेरग्नित्वम्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्" [छाः उः ६ । ४ । १] इति । अत्र रूपत्रयं सूक्ष्मरूपतेजोवन्न लक्षणव्यक्तात् स्वतन्त्रमग्नेरग्नित्वं न निरूपणीयमस्तीत्यर्थः । न त्वसत्यमेवेति वक्तव्यम् । सत्कार्य्यतासम्प्रतिपत्तेः सर्व्वकारणस्य परमात्मनः सर्व्वदैव व्यतिरेकासम्भवात् । तस्मात्तस्मिन् विश्वस्य स्थूलतया सूक्ष्मतया वा नित्यं भवद्रूपत्वमस्त्येव । तथा च श्रुतिः—"यद्भूतं भवच्च भविष्यच्च" इति । तथा "सत्त्वाच्चावरस्य" [ब्रह्म सूः २ । १ । १६] इत्यनन्यत्वन्यायस्योपसूत्रञ्च । अतो यदा कारणमस्ति तदा कार्य्यमप्यस्ति । इत्थमेव "भावे चोपलब्धेः" [ब्रह्म सूः २ । १ । १५] इति सूत्रान्तरञ्च व्याख्येयम् ।

अस्य सूत्रस्य कारणभाव एव कार्य्यभावोपलब्धिरिति विवर्त्तवादिनां व्याख्याने तु मृत्तिकाभाव एव घटोपलब्धिवत् शुक्तिभाव एव रजतोपलब्धेरावश्यकत्वं चिन्त्यम् । वणिग्वीथ्यादौ तदभावेऽपि रजतदर्शनात् ।

ननु, कारणं विना कार्य्यं निरूपयितु' न शक्यम्,—तन्तून् विना पटो नाम वस्त्वेव ।

सत्यम्; तथापि आतान-वितान-वैशिष्ट्यस्योपलभ्यमानत्वात्, उपलब्धे च वैशिष्ट्ये स्वाविर्भूतेन तेनैव केवलेभ्यः स्वेभ्यो विलक्षणाः पटतयाविर्भवन्तीति कारणात् कार्य्यस्यानन्यत्वं न च कारणावस्थामात्रमिति प्रत्यक्षीक्रियत एव ।

इत्थं प्रत्यक्षमेवानन्यत्वस्योपलभ्यमानत्वात् "भावे चोप-

लब्धेः” [ब्रह्म सूः २ । १ । १५] इत्यत्र भावाच्चोपलब्धेरिति केचित् पठन्ति । उपलम्भनस्य विद्यमानत्वादित्यर्थः ।

तस्मात् कार्य्यस्यापि सत्यत्वं न तु मिथ्यात्वम् । यत्तु मिथ्यात्वं तदपि आत्मपरमात्मनोरध्यस्तत्वमेव । लोकेऽपि शुक्ताबध्यस्तत्वमेव रजतस्य मिथ्यात्वमुच्यते । स्वतः सत्यत्वात् खपुष्पादेरनध्यास्यत्वाच्च ।

ननु, तत् सत्यं स आत्मेतिकारणस्य सत्यत्वावधारणात् विकारजातस्यासत्यत्वमुक्तम् । न, अवधारकपदाभावात् । प्रत्युत तस्यैकस्य सत्यत्वमुक्त्वा तदुत्थस्य सर्व्वस्यैव सत्यत्वमुपदिश्यते । रजतं न शुक्त्युत्थं किन्तु तस्मिन्नध्यस्तमेव । विवर्त्तवादश्च पूर्व्वमेव परिहृतः । तास्माद्वस्तुनः कारणत्वावस्था कार्य्यावस्था च सत्यैव । तत्र चावस्थायुगलात्मकमपि वस्त्वेवेति कारणानन्यत्वं कार्य्यस्य । तदेतदप्युक्तं सूत्रकारेण “तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः” [ब्रह्म सूः २ । १ । १४] इति ।

अत्र च तदनन्यत्वमित्येवोक्तं न तु तन्मात्रसत्यत्वमिति ।

कार्य्यस्यासत्यत्वं न तन्मतं तदेतत् सर्व्वसम्वादेन तदन्यत्वप्रकरणमारभ्यते ।

“तत्र शक्तेः, शक्तिमदव्यतिरेकात्” [मुः ६०] इत्यादिना षष्टितमवाक्याभासेन । अथ टीकादर्शितं खण्डनानुगतविवर्त्तवादत्वमनन्यत्ववादव्याख्ययान्यथयितुं द्विषष्टितमवाक्यादिकमाभासयन्नाह—

तत्रानन्यत्वे युक्तिं निवृणोतीति ।

अथ चतुरशीतितमवाक्यव्याख्यान्तरमेवं विवेचनीयम्—

तदेवं परिणामाङ्गीकारेण विश्वस्य सत्यत्वं साधितम् । तत्र कार्य्यकारणयोरनन्यत्वं दर्शितम् । विवर्त्तवादनिषेधेनाभेदश्च परिहृतः । अत्र केचिद्वदन्ति—

अत्र एकस्यैव वस्तुनोऽवस्थाभेदेन कारणत्वं कार्य्यत्वञ्चोऽन्य-वस्थाभ्यां भेदाद्वस्तुना त्वभेदात्तयोर्भेदाभेदौ। एवं सर्व्वेषामेव वस्तूनां भेदाभेदावेव। सर्व्वत्र हि कारणात्मना जात्यात्मना चाभेदः। कार्य्यात्मना व्यक्तयात्मना च भेदः प्रतीयते। यथा मृदयं घटः। षण्डो गौरिति।

अत्र युक्तिविशेषाश्च भास्करमतादौ द्रष्टव्याः।

अन्ये वदन्ति—न तावत् कार्य्यकारणयोर्भेदाभेदौ,—यत आकारविशेषरूपायाः एवावस्थायाः कार्य्यत्वं न मृदः। तस्याः पूर्व्वसिद्धत्वात्।

अतएव नाकारविशेषविशिष्टाया अपि तस्याः कार्य्यत्वम्। घटत्वन्तु विशिष्टाया एव। तत्कार्य्यकरत्वतत्प्रतीतितच्छब्दप्रयोगाणां तस्यामेव दर्शनात्।

अतो घटस्य कार्य्यत्वं, कार्य्यस्य घटत्वं प्राचुर्य्यादेव व्यपदिश्यते। तदेवं तदवस्थाया एव कार्य्यत्वे सिद्धे कारणत्वमपि परस्यास्तदवस्थाया एव भविष्यति। ततश्च कार्य्यकारणयोस्तद्रूपावस्थाद्वयाश्रयस्य वस्तुनश्च भिन्नत्वमेव। तयोरनन्यत्वं तु घटादिलक्षणविशिष्टवस्त्वपेक्षयैव—न तु प्रत्येकवस्त्वपेक्षया। तथा परस्परं कार्य्याणामपि न भिन्नाभिन्नत्वं प्रतीयते प्रत्येकं वैलक्षण्यात्। तथा व्यक्तिगतभेदो जातिगतश्चाभेद इति नैकस्य द्व्यात्मकता। तदाकारद्वयाश्रयं वस्त्वन्तरमस्तीति त्रितयाभ्युपगमेऽपि स एव दोषः,—अनवस्थापातश्च,—तस्माद्भेद एव। तत्त्वमस्यादावभेदनिर्द्देशस्तु व्याख्यात एव। अत्र भेदसिद्धान्ते युक्तिबाहुल्यञ्च न्यायदर्शनादौ द्रष्टव्यम्।

अतो भेदाभेदवादो विशिष्टवस्त्वपेक्षयैव प्रवर्त्तताम्। अभेदवादश्च विशेषानुसन्धानराहित्येनैवेति। अपरे तु "तर्काप्रतिष्ठानात्" [ब्रह्म सूत्रः २।१।११] भेदेऽप्यभेदेऽपि निर्म्मर्य्या-

द्दोषसन्ततिदर्शनेन भिन्नतया चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदं साधयन्तः तद्वदभिन्नतयापि चिन्तयितुमशक्यत्वाद्भेदमपि साधयन्तोऽचिन्त्यभेदाभेदवादं स्वीकुर्व्वन्ति । तत्र वादरपौराणिकशैवानां मते भेदाभेदौ भास्करमते च । मायावादिनां तत्र भेदांशो व्यावहारिक एव प्रातीतिको वा । गौतम-कणाद-जैमिनि-कपिल-पतञ्जलिमते तु भेद एव । श्रीरामानुजमध्वाचार्य्यमते चेत्यपि सार्व्वत्रिकी प्रसिद्धिः । स्वमते त्वचिन्त्यभेदाभेदावेव अचिन्त्य-शक्तिमयत्वादिति ।

अथ चतुरुत्तरशततमवाक्यानन्तरं चतुर्व्यूहविचारे चैवं विवेचनीयम्,—भगवद्वासुदेवयोरेकत्वम् । पुरुषस्यैव वा निरुपाधेरवस्था वासुदेवः । स एव हि परमात्मेति पाञ्चरात्रिकादयः । अयं रक्तः श्यामो गौरश्च क्वचित् चित्ताधिष्ठातृत्वेनोपासनाविशेषे निर्द्दिष्टश्च । पुरुषस्य सङ्कर्षणादयो भेदाः ।

तत्र सङ्कर्षणो महासमष्टिजीवस्य प्रकृतेश्च नियमनं सृष्ट्याद्यर्थं करोति । रुद्राधर्म्मयमसर्पदैत्यादीनां चांशेन संहारमात्रार्थम् । अयं शुक्लोऽहङ्काराधिष्ठातृत्वेनोपसनाविशेषे निर्द्दिष्टः । अस्यैवांशः शेषाविष्टः । अथ प्रद्युम्नः सूक्ष्मब्रह्माण्डनियमनं स्थूलकार्य्योत्पत्त्यर्थं करोति ।

ब्रह्मप्रजापतिस्मररागिणां चांशेन विसर्गमात्रार्थम् । अयं गौरः श्यामो वा पूर्व्ववद् बुद्ध्यधिष्ठातृत्वेनोपास्यः । अस्यैवांशः कामाविष्टः । अथानिरुद्धः स्थूलब्रह्माण्डनियमनं ब्रह्माद्याविर्भावनसुखसृष्ट्याद्यर्थं करोति । धर्म्ममनुदेवभूभुजां विष्णुरूपेण स्थितिमात्रार्थम् । अयं श्यामः पूर्व्ववन्मनस्युपास्यः । मोक्षधर्म्मे तु मनसि प्रद्युम्नः, अहङ्कारेऽनिरुद्ध इति ।

पाञ्चरात्रिकमतञ्चैतत् । एते परमवैकुण्ठावरणस्था अपि पाद्मादौ मताः । [द्रष्टव्यश्चात्र पद्मपुराणोत्तरखण्डे ६१ अध्यायः ।]

प्रपञ्चे एवैते जलावृतिस्थवेदवतीपुरे सत्योद्ध्र्वद्वारकादिषु विराजन्ते। यत्तु पञ्चरात्रादौ सङ्कर्षणादयो जीवमनोऽहङ्कारतया श्रूयन्ते, तत्तु न ते जीवादय इत्येवाभिप्रायम्। किन्तु तत्तदधिष्ठातृत्वेनोपास्यत्वाभिप्रायमेव सर्व्वत्र तेषां वासुदेवतुल्यत्वाम्नानात्, तुल्यत्वे चोत्पत्तिर्दीपपरम्परावत्।

अथ चोत्पत्तिस्तत्राविर्भावार्थैव। तथाप्याधिक्यं वासुदेवे स्यादिति चेत्, अस्तु साम्योक्तिस्त्वंशांशिनोरेकतापत्तित एव स्यात्। यथोक्तम्,—

"सोऽच्युतोऽच्युततेजाश्च स्वरूपं वितनोति वै।
आश्रित्य वासुदेवञ्च स्वस्थो मेघो जलं यथा॥" इति।

अनन्तव्यूहे चतुष्टयतामात्रसंख्यामुख्यत्वापेक्षयेत्यपि मन्तव्यम्। तस्मात् शुद्धैवैषा पाञ्चरात्रिकी प्रक्रिया।

ननु पञ्चरात्रे वहुविधो विप्रतिषेध उपलभ्यते गुणगुण्यादीनामेकवस्तुत्वादिलक्षणः। "ज्ञानैश्वर्य्यबलतेजांसि गुणा आत्मन एव ते भगवन्तो वासुदेवाः" इत्यादिदर्शनात्। वेदविप्रतिषेधञ्च भवति। चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयो न लब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधीतवानित्यादि वेदनिन्दादर्शनादिति" चेन्न—

तत्राद्यः पक्षः शक्तिशक्तिमतोरभिन्नवस्तुतास्वीकारेण पूर्व्वमेव निरस्तः। भेदमतेऽपि विशिष्टस्यैव भगवत्स्वरूपत्वान्न दोषः। अन्तेऽपीदं ब्रूमः न तत्र वेदनिन्दनमायाति। किं तर्हि वेदस्य "किं विधत्ते किमाचष्टे" [श्रीभाग ११। २१। ४२] इत्यादिन्यायेन दुर्ब्बोधत्वं पञ्चरात्रस्य समाससंगृहीतस्फुटतदर्थसारत्वात् सुबोधत्वमित्येवायाति, स्मृतिपुराणानामप्येवंगुणता पठ्यते। यथा स्कान्दप्रभासखण्डे—

"यन्न दृष्टं हि वेदेषु तद्दृष्टं स्मृतिषु द्विजाः।
उभयोर्यन्न दृष्टन्तु तत् पुराणे प्रगीयते॥

योवेद चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजाः ।
पुराणं नैव जानाति न च स स्याद्विचक्षणः ॥" इति ।

नारदीये च—
"वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं बरानने !" इति ।

ननु ब्रह्मसूत्रेष्वेव ते पाञ्चरात्रिका दोषाः सूच्यन्ते, "उत्पत्त्य-सम्भवात्" [ब्रह्म सूः २ । २ । ४२] इत्यादिषु ; नैवम्—तानि हि सूत्राणि श्रीमध्वाचार्य्यादिभिः शाक्तमतदूषणायैव विवृता-नीति । किञ्च ताः पाञ्चरात्रिकप्रक्रियाः स्वयं भगवता बादरा-यणेनैव पुराणादिषु दर्शिताः । बासुदेबादिव्यूहानां शतशस्तथै-बाभ्युपपत्तेः । श्रुतिष्वपि ताः प्रक्रियाः शतशो दृश्यन्ते । तथैकस्य गुणगुणिरूपत्वमपि विष्णुपुराणादौ तद्वदेबाङ्गीक्रियते ।

"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य्यवीर्य्यतेजांस्यशेषतः । भगबच्छब्दबा-च्यानि" [बिष्णु पुः] इत्यादिना । तस्मादपि न निन्द्या पाञ्च-रात्रिकी प्रक्रिया । उक्तञ्च भारते,—

"सांख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतन्तथा ।
एतान्यतिप्रमाणानि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥" [महाभाः]

इति । यत्तु कौर्म्मे श्रीभगबद्वाक्यम्—

"तस्माद्धि वेदबाह्यानां रक्षणार्थाय पापिनां ।
बिमोहनाय शास्त्राणि करिष्यसि वृषध्वज ॥
एवं सञ्चोदितो रुद्रो माधवेनासुरारिणा ।
चकार मोहशास्त्राणि केशबोऽपि शिवे स्थितः ॥"
"कापालं नाकुलञ्चाभं पम्भैरवं पूर्व्वपश्चिमम् ।
पाञ्चरात्रं पाशुपतं तथान्यानि सहस्रशः ॥"
[कूर्म्मपुराणे पूर्व्वभागे १६ । ११५—११७] इति ।

तत्रोच्यते—साङ्ख्यादिशास्त्राणि यदि श्रीभगबत्येव पर्य्य-बसाय्यन्ते तदैव प्रमाणं न तु स्वतः ; पञ्चरात्रस्य स्वतएव तद-

भिधायकता तदेव स्वतः प्रमाणं न त्वन्यत् पशुपत्याद्यभिधायकत्वमिति। यतो मोक्षधर्म्मे नारायणीये साङ्ख्यादीन्यन्यार्थान्यपि तत्रैव पर्य्यवसायितानि।

पाञ्चरात्रविदान्तु साक्षाद्भगवत्प्राप्तिमुक्त्वा तस्य शास्त्रस्य साक्षादेव भगवदभिधायकत्वमाह। अतो येन देवतान्तरमभिधीयते तत् पाञ्चरात्रं न गृहीतव्यमिति निन्दाश्रवणमपि तस्यैव भवेत्। तथाहि—

"साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतन्तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे! विद्धि नानामतानि वै॥"
[महाभाः शान्ति, मोक्ष ३५० । ६८]

"साङ्ख्यस्य वक्ता कपिलः" [महाभाः शान्ति, मोक्ष ३५०। ६४-६५] इत्युपक्रम्य—"पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वेत्ता तु भगवान् स्वयं" [तत्रैव ३५० । ६८] इति।

स्वयंपदेन तस्याधिक्यं प्रतिपाद्य—

"सर्व्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञातेष्वेतेषु दृश्यते।
यथागमं यथाज्ञानं निष्ठा नारायणः प्रभुः॥" [तत्रैव ३५०। ६८] इत्यादिना पञ्चरात्राभिधेये नारायण एव सर्व्वशास्त्रसमन्वयं दर्शयित्वा

"पञ्चरात्रविदो ये तु क्रमयोगपरा नृप!
एकान्तभावोपगतास्ते हरिं प्रविशन्ति वै॥"
[तत्रैव ३५० । ७२]

इति तत् प्रतिपाद्य परमफलत्वमाह। भाल्लवेयश्रुतिश्चात्र भवतिः—

"उपास्य एकः परतः परो वै,
वेदैश्च सर्व्वैः सह चेतिहासैः।
सपञ्चरात्रैः सपुराणैश्च देवः
सर्व्वैर्गुणैस्तत्र तत्र प्रतीतेः॥" इति।

भविष्यपुराणे:—

"ऋग्यजुःसामाथर्व्वाख्या भारतं पञ्चरात्रकम् ।
मूलरामायणञ्चैव वेद इत्येव शब्दिताः ॥
पुराणानि च यानीह वैष्णवानि विदो विदुः ।
स्वतः प्रामाण्यमेतेषां नात्र किञ्चिद्विचार्य्यते ॥" इति ।

स्वयं श्रीभागवतेनापि वैष्णवपञ्चरात्रं स्तूयते—

"तृतीयमृषिसर्गं वै देवर्षित्वमुपेत्य सः ।
तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्म्मणां यतः" ॥
[श्रीभाग १ । ३ । ८]

इत्यादौ ।

तदेवं पाञ्चरात्रिकं मतमनुत्तममेवेति सिद्धम् ॥

इति श्रीभागवतसन्दर्भे परमात्मसन्दर्भानुव्याख्यायां सर्व्वसम्वा-
दिन्यां परमात्मसन्दर्भो नाम तृतीयः सन्दर्भः ।

अथ श्रीकृष्णसन्दर्भस्यानुव्याख्या

"अथ" इति निर्द्धारणं, बहुष्वेकस्य निर्णयः ।

"एतत्" [मूलस्य ५ चिह्नितवाक्ये] इति:—यस्य शक्तित्वेनांशौ प्रकृतिशुद्धसमष्टिजीवौ । तयोरंशेन परस्परसंयुक्तेन वृत्तिसमूहद्वयेन—

"न घटत उद्भवः प्रकृतिपुरुषयोरजयो—
रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत ॥" [श्रीभाग १० । ८७ । ३१] इत्युक्तत्वात् ।

"द्वितीयम्" [मूलम् ७] इति,—अनेन पृथिव्युद्धरणं द्विरपि

कृतम ; लीलासाजात्येन त्वेकवद्वर्ण्यते। पूर्व्वं हि स्वायम्भुवमन्वन्तरादौ पृथिवीमज्जने तामुद्धरिष्यन् पश्चाच्च षष्ठमन्वन्तरजातप्राचेतसदक्षकन्यादितिगर्भोद्भवेन हिरण्याक्षेण सह युद्धे षष्ठमन्वन्तरजातपृथिवीमज्जने तामुद्धरिष्यन्नित्यर्थः।

तत्रादौ "विधेर्घ्राणादन्ते नीरात्" इति पुराणान्तरम्।

"अयं कचिच्चतुष्पात् स्यात कचित् स्यान्नृवराहकः।
कदाचिज्जलदश्यामः कदाचिच्चन्द्रपाण्डुरः" ॥

[लघुभागवतामृते]

उक्तश्च प्रलयश्चाक्षुषादौ देवादिसृष्टिश्च चतुर्थे—

"चाक्षुषे त्वन्तरे प्राप्ते प्राक् सर्गे कालविप्लुते।
यः ससर्ज्ज प्रजा इष्टाः स दक्षो दैवचोदितः ॥"

[श्रीभाग ४। ३०। ४६] इति।

"तृतीयम" [मूलम ८] इति,—"सात्वतं—वैष्णवं ; तन्त्रं—पञ्चरात्रागमम्। कर्म्मणां कर्म्माकारेणापि सतां श्रीभगवद्धर्म्माणां यतस्तन्त्रान्नैष्कर्म्म्यं कर्म्मबन्धमोचकत्वेन कर्म्मभ्यो निर्गतत्वं तेभ्यो भिन्नत्वं प्रतीयत इति शेषः।" [श्रीकृष्णसन्दर्भे]

"तुर्य्य" [मूलम् ६] इति,—धर्म्मस्य भागवतमुख्यस्य कलायाः श्रद्धापुष्ट्यादिसाहित्येन पठितायाः श्रीभगवच्छक्तिलक्षणाया मूर्त्तेश्च सर्गे प्रादुर्भावे। अनयोरेकावतारत्वं हरिकृष्णाभ्यां सोदराभ्यामपि सह।

"पञ्चम" [मूलम् १०] इति—पाद्मे—

"कपिलो वासुदेवाख्यस्तत्त्वं साङ्ख्यं जगाद ह।
ब्रह्मादिभ्यश्च देवेभ्यो भृग्वादिभ्यस्तथैव च ॥
तथैवासुरये सर्व्ववेदार्थैरुपबृंहितम्।
सर्व्ववेदविरुद्धञ्चाकपिलोऽन्यो जगाद ह।
साङ्ख्यमासुरये ऽन्यस्मै कुतर्कपरिबृंहितम् ॥" इति

"ततः" [मूलम् ११] इति। अयमेव "मातामहेन मनुना हरिरित्यनूक्तः"।

"अष्टमे" [मूलम १३]। अयमेवावेश इत्येके।

"रूपम्" [मूलम् १५]। अयमपि वराहवत्। प्रथमषष्ठमन्वन्तरयोरवान्तरात। तद्वदेव च द्वितीय एव तथैव वर्णितः।

"मत्स्यो युगान्तसमये मनुनोपलब्धः
क्षौणीमयो निखिलजीवनिकायकेतः।
विस्रंसितानुरुभये सलिले मुखान्मे
आदाय तत्र विजहार ह वेदमार्गान् ॥"

[श्रीभाग २। ७। १२] इति।

स्वायम्भुवीयस्यादौ हयं दैत्यं हत्वा वेदानाहरत्। चाक्षुषान्ते तु सत्यव्रते कृपामकरोदिति।

"सुरा" [मूलम् १६]। अयमेव सुरप्रार्थनात् क्षौणीं दधे इति पाद्मे।

अन्यत्र तु तदर्थं कल्पादौ च प्रादुरभवदिति।

"धान्वन्तरम" [मूलम् १७]। अयं समुद्रमथनात षष्ठे काशिराजात् सप्तमे इति ज्ञेयम्।

"पञ्च" [मूलम् १८]। अयं कल्पेऽस्मिन्नादौ वाष्कलेरध्वरमगात्, ततो धुन्धोस्ततो वलेरिति ज्ञेयम्। तथैव त्रिषु त्रिविक्रमत्वञ्च। "अवतारे" [२०]। अयं सप्तदशे चतुर्युगे द्वाविंशे त्विति केचित्; आवेश एवायम्।

"ततः" [२१]। अस्य पूर्व्वजन्मन्यपान्तरतमत्वश्रवणादावेश इति केचित्। तत्सायुज्यादयं साक्षादंश एवेत्यन्ये।

"नरदेव" [२२]। अयं चतुर्विंशे चतुर्युगे त्रेतायाम्।

"ततः" [२४]। अयं कलेरब्दसहस्रद्वितीये गते व्यक्तः। मुण्डितमुण्डः पाटलवर्णो द्विभुजः।

"अथ" [२५]। अयं कल्किवुद्धश्च प्रतिकलियुग एवेत्येके। एतौ चावेशाविति विष्णुधर्म्ममतम्।

तथाहि:—

"प्रत्यक्षरूपधृग्देवो दृश्यते न कलौ हरिः।
कृतादिष्वेव तेनैव त्रियुगः परिपठ्यते॥
कलेरन्ते च सम्प्राप्ते कल्किनं ब्रह्मवादिनम्।
अनुप्रविश्य कुरुते वासुदेवो जगत्स्थितिम्॥
पूर्व्वोत्पन्नेषु भूतेषु तेषु तेषु कलौ प्रभुः।
कृत्वा प्रवेशं कुरुते यदभिप्रेतमात्मनः॥"

[विष्णुध: १०४ अध्याये] इति

"अवताराः" [२६]। अत्र चैष विशेष इत्यत्रैतदुक्तं भवति। भगवान् खलु त्रिधा प्रकाशते—स्वयंरूपस्तदेकात्मरूप आवेशरूपश्चेति। तत्रानन्यापेक्षरूपः,-स्वयं रूपः। स्वरूपाभेदेऽपि तत्सापेक्षरूपादिस्तदेकात्मरूपः। जीवविशेषाविष्ट,-आवेशरूपः।

तदेकात्मरूपोऽपि द्विविधः—तत्समस्तदंशश्च।
आवेशोऽपि द्विविधः-ज्ञान-क्रियाशक्तिप्राधान्येन।

तत्र स्वयंरूपो यथा ब्रह्मसंहितायाम्—

"ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्व्वकारणकारणम्॥"

[ब्र' सं ५। १] इति।

तत्समो यथा, तस्यैव परमव्योमनाथ इति प्रतिपत्स्यते। यथा परमव्योमावरणस्थस्तस्य वासुदेवः।

अंशो यथा-तदावरणस्थः सङ्कर्षणादिर्म्मत्स्यादिश्च। आवेशश्च तत्स्थः, शेषचतुःसननारदादिः।

तत्र ते स्वयंरूपादयो यदि विश्वकार्य्यार्थमपूर्व्वा इव प्रकटीभवन्ति तदावतारा उच्यन्ते। ते च कदाचित् स्वयमेव प्रकटी-

भवन्ति, द्वारान्तरेण च। द्वारञ्च कदाचित् स्वरूपं, भक्तादिरूपञ्च भवति। तत्र च स्वयंरूपतत्समौ परावस्थौ, अंशास्तारतम्य-क्रमेण प्राभवा वैभवा रूपाश्च। आवेशस्त्वावेश एवेति पाद्मादौ प्रसिद्धिः। तत्र स्वयंरूपः,—श्रीकृष्णः, तत्समप्रायौ श्रीनृसिंह-रामौ। वैभवरूपौ क्रोड़-हयग्रीवौ। अन्ये प्राभवप्रायाः।

ते चावताराः कार्य्यभेदेन त्रिविधाः—पुरुषावतारा गुणाव-तारा लीलावताराश्चेति। तत्राद्या उभये परमात्मसन्दर्भे दर्शिताः। अन्त्याश्च "स एव प्रथमं देवः" [श्रीभाग १। ३। ६] इत्यादिनात्रैव प्रक्रान्ताः।

एते पुनः पञ्चविधाः—द्विपरार्द्धावताराः, कल्पावतारा, मन्व-न्तरावतारा, युगावताराः, स्वेच्छामयसमयावताराश्चेति। तत्ता-दधिकारलीलत्वात् ते च क्रमेण पुरुषादयः क्षीरोदशाय्यादयो यज्ञादयः शुक्लादयः श्रीकृष्णरामादयश्च। एषु मन्वन्तरावताराश्च यज्ञविभु-सत्यसेन-हरि-वैकुण्ठाजितवामनसार्व्वभौमर्षभ-विष्वक्-सेनधर्म्मसेतु-सुधाम-योगेश्वर-बृहद्भानवः क्रमेण चतुर्दश।

ऋषभोऽयमायुष्मत्पुत्रः। नाभिपुत्रस्त्वन्यः। एषु यज्ञः प्राय-आवेशः। तस्य पृथुपादग्रहश्रवणात्। हरि-वैकुण्ठाजित-वामनाः परावस्थोपमा वैभवावस्थास्तादृशत्वेन वर्णनात्। अन्ये प्रायः प्राभवावस्थाः नातिवर्णनात्।

अथ युगावताराः—शुक्लरक्तश्यामकृष्णाः।

अत्र पुरुषभेदानां ब्रह्मादीनाञ्चाविर्भावसमयो ब्राह्मकल्प-प्रवृत्तेः पूर्व्वमेव। चतुःसन-नारद-वराह-मत्स्य-यज्ञ-नरनारायण-कपिलदत्त-हयशीर्ष-हंस-पृश्निगर्भर्षभदेवपृथूनां स्वायम्भुवे। वरा-हमत्स्ययोः पुनश्चाक्षुषीये च। नृसिंह-कूर्म्म-धन्वन्तरि-मोहिनीनां चाक्षुषे। कूर्म्मः कल्पादावपि, धन्वन्तरिर्वैवस्वतेऽपि। वामनभा-र्गव-राघवेन्द्र-द्वैपायन-राम-कृष्ण-बुद्ध-कल्कीनां वैवस्वते। मन्व-

न्तरयुगावताराणां तदा तदैव ज्ञेयम् ।

"किं विधत्ते" [श्रीभाग ११ । २१ । ४२ ; मूलम् २६]
इति अस्य चूर्णिकाप्रघट्टके केशशब्दव्याख्याने हरिवंश-वाक्यानि—

"स देवानभ्यनुज्ञाय तदैव त्रिदशालये ।
जगाम विष्णुः स्वं देशं क्षीरोदस्योत्तरां दिशम् ॥ ॥
तत्र सा पार्व्वती नाम गुहा देवैः सुदुर्गमा ।
त्रिभिस्तस्यैव विक्रान्तैर्नित्यं पर्व्वसु पूजिता ॥
पुराणं तत्र बिन्यस्य देहं हरिरुदारधीः ।
आत्मानं योजयामास वसुदेवगृहे प्रभुः" ॥
[हरिवंश ५६ । ४६—५१] इति

"इत्थं द्विजा यादवदेवदत्तः श्रुत्वा स्वरातुश्चरितं पवित्रम् ।
पप्रच्छ भूयोऽपि तदेव पुण्यं वैयासकिं यन्निगृहीतचेताः ॥"
[मूलम् ५०] [श्रीभाग १० । १२ । ४०] इति ।

"येन येनावतारेण भगवान् हरिरीश्वरः ।
करोति कर्णरम्याणि मनोज्ञानि च नः प्रभो ॥
[श्रीभाग १० । ७ । १]
यच्छृण्वतोऽपैत्यरतिर्वितृष्णा सत्त्वञ्च शुद्धयत्यचिरेण पुंसः ।
भक्तिर्हरौ तत्पुरुषे च सख्यं तदेव हारं वद मन्यसे चेत् ॥"
[मूलम् ५१] [श्रीभाग १० । ७ । २] इति ।

सम्यग्व्यवसिता बुद्धिस्तव राजर्षिसत्तम ।
बासुदेवकथायान्ते यज्जाता नैष्ठिकी रतिः ॥" [मूलम् ५३]
[श्रीभाग १० । १ । १५] इति ।

"नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च ॥
इति मूर्त्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्त्तिममूर्त्तिकम् ।
यजते यज्ञपुरुषं सः सम्यग्दर्शनः पुमान् ॥" [मूलम् ६१]
[श्रीभाग १ । ५ । ३७—३८] इति ।

"सात्वताम्" [मूलम् ८१] इति । एतदनन्तरं गतिसामान्यप्रकरणे श्रीकृष्णनाममाहात्म्ये "सहस्रनाम्नाम्" इत्यादि-ब्रह्माण्डवाक्यानन्तरमेवं व्याख्येयम् । यथा—

"सर्व्वार्थशक्तियुक्तस्य देवदेवस्य चक्रिणः ।
यच्चाभिरुचितं नाम तत् सर्व्वार्थेषु योजयेत् ॥

इति विष्णुधर्म्मदृष्ट्या सर्व्वेषामेव भगवन्नाम्नां निरङ्कुश-महिमत्वे सति "समाहृतानामुच्चारणमपि नानार्थकं संस्कार-प्रचय-हेतुत्वादेकस्यैवोच्चारणप्रचयवत्" इति नामकौमुदीकारै-रङ्गीकृतम् । तथा समाहृतसहस्रनामत्रिरावृत्तिशक्तेः कृष्णनामो-च्चारणमवश्यं मन्तव्यम् ।

अत्र देवदेवस्य यदभिरुचितं प्रियं नाम तत् सर्व्वार्थेषु योज-येदित्यपि केनचिद् व्याचक्षते—यथा "हरेः प्रियेण गोविन्दनाम्ना निहतानि सद्यः" इति ।

ननु वृहत्सहस्रनामस्तोत्रं नित्यमेव पठन्तीं देवीं प्रति "सहस्र-नामभिस्तुल्यं रामनाम वरानने" [पद्मपुराणे उत्तरखण्डे ६६ अध्याये श्रीरामचन्द्रस्य शतनामस्तोत्रे] इत्याद्युपपत्त्या राम-नाम्नैव सहस्रनामफलं भवतीति बोधयन् श्रीमहादेवस्तत्सहस्र-नामान्तर्गतकृष्णनाम्नामपि गौरवत्वं बोधयति । तर्हि कथं ब्रह्मा-ण्डवचनमविरुद्धं भवति ? उच्यते,— प्रस्तुतस्य तस्य वृहत्सह-स्रनामस्तोत्रस्यैकयावृत्त्या यत् फलं तद्भवतीति रामनाम्नि प्रौढ़िः । कृष्णनाम्नि तु द्विगावसम्भवात् सहस्रनाम्नामिति वहुवच-नात् तादृशानां बहूनां सहस्रनामस्तोत्राणां त्रिरावृत्त्या यत् फलं तद्भवतीति ततोऽपि महती प्रौढ़िः । अतएव तत्र,—

"समस्तजपयज्ञानां फलदं पापनाशनम् ।
शृणु देवि ! प्रवक्ष्यामि नाम्नामष्टोत्तरं शतम् ॥" [पद्म-पुराणे उत्तरखण्डे ६६ अध्याये श्रीरामचन्द्रस्य शतनामस्तोत्रे]

इत्युक्तत्वान्येषामपि जपानां वेदाद्युक्तानां फलमन्तर्भावितम् ।

ततश्च प्रौढ्याधिक्याद्युत्तरस्य पूर्व्वस्माद्बलवत्त्वे सति पूर्व्वस्य महिमापि तदविरुद्ध एव व्याख्येयः । तथाहि यद्यप्येवमेव श्रीकृष्णवत्तान्नाम्नोऽपि सर्व्वतः पूर्णशक्तितया सर्व्वेषामपि नाम्नामवयवित्वमेव तथाप्यवयवसाधारण्येन प्रयोगलक्षणमसमञ्जसमेव ततस्तादृशफललाभे भवति प्रतिबन्धकम् । ततो नामान्तरसाधारणमेव फलं भवेत् । यथा साक्षान्मुक्तेरपि दातुः श्रीविष्णवाराधनस्य यज्ञाङ्गत्वेन क्रियमाणस्य स्वर्गमात्रप्रदाता । यथा वा वेदजपतस्तदन्तर्गतभगवन्मन्त्रेणापि न ब्रह्मलोकाधिकफलप्राप्तिः । यथात्रैव तावत् केवलं रामनामैव सकृद्वदतोऽपि वृहत्सहस्रनामफलमन्तर्भूतरामनामैको न सहस्रनामकं सम्पूर्णं वृहत्सहस्रनामापि पठतो वृहत्सहस्रनामफलं न त्वधिकमेको न सहस्रनामफलमिति ।

अतएव साधारणानां केशवादिनाम्नामपि तदीयतावैलक्षण्येनागृह्यमाणानामवतारान्तरनामसाधारणफलमेव ज्ञेयम् ।

नामकौमुद्यान्तु सर्व्वानर्थक्षय एव ज्ञानाज्ञानविशेषो निषिद्धः ; न तु प्रेमादिफलतारतम्ये । तदेवं तत्र कृष्णनाम्नः साधारणफलदत्वे सति "सहस्रनामभिस्तुल्यं रामनाम वरानने" इत्यपि युक्तमेवोक्तम् । वस्तुतस्त्वेव सर्व्वावताराबतारिनामभ्यः श्रीकृष्णनाम्नोऽभ्यधिकं फलं स्वयं भगवत्त्वादस्य ।

ननु यथा दर्शपौर्णमास्याद्यङ्गभूतया पूर्णाहूत्या सर्व्वान् कामानवाप्नोतीत्यादावर्थवादत्वं तथैवात्रोभयत्रापि भविष्यतीति चेन्न, वृहत्सहस्रनामस्तोत्रं पठित्वैव भोजनकारिणीं देवीं प्रति रामनामैव सकृत् कीर्त्तयित्वा कृतकृत्या सती मया सह भुंक्ष्वेति साक्षाद्भोजने श्रीमहादेवेन प्रवर्त्तनात् । अतस्ततोऽपि प्रौढ्याधिक्यात् कृष्णनाम्नि तु तथार्थवादत्वं दूरोत्सारितमेवेति ।

अथ "ईश्वरः सर्व्वभूतानाम्" [गीता १८ । ६१] इत्यादि

श्रीगीतापद्यषट्कव्याख्यानान्तरमेवं व्याख्येयम्—तथा हि—अत्र कश्चिद्वदति । "ईश्वरः सर्व्वभूतानाम्" इत्यादौ "सर्व्वमेवेद-मीश्वरः" इति भावेन यद्भजनं तत्र ज्ञानांशस्पर्शः । इह तु "मन्मना भव" [गीता १८ । ६५] इत्यादि शुद्धैव भक्तिरुपदिष्टेत्यत एव सर्व्वगुह्यतमत्वम् ! किम्बा पूर्व्वेण वाक्येन परोक्षतयैवेश्वरमुद्दि-श्यापरेण तमेवापरोक्षतया निर्द्दिष्टवानित्यत एव न च वक्तव्यं पूर्व्वमपि ।

"मन्मना भव मद्भक्तो मद्‌याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥"
[गीता ६ । ३४]

इत्यादिभिः शुद्धभजनस्योक्तत्वात् ।

तथापि "अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृताम्बरः" [गीता ८ । ४] इत्यादौ च स्वस्यान्तर्य्यामित्वेन चोक्तत्वात् । सर्व्वगुह्य-तमत्वयोरनुपपत्तिरिति । यद् यदेव पूर्व्वं सामान्यतयोक्तं तस्यै-वान्ते विविच्य निर्द्दिष्टत्वात् । उच्यते-न तावत् भजनतारतम्यम् । अत्र भजनीयतारतम्यस्यापि सम्भवे गौणमुख्यन्यायेन भज-नीय एवार्थसम्प्रतीतेः । मुख्यत्वञ्च—"तस्य फलमत उपपत्तेः" [ब्रह्म सूः ३ । २ । ३६] इति न्यायेन विशेषतस्तु तच्छब्देन न स्वयमेव तद्रूप इति मच्छब्देन स्वयमेवैतद्रूप इति च भेदस्य विद्यमानत्वात् उपदेशद्वये निजेनौदासीन्येनावेशेन च लिङ्गेना पूर्णत्वोपलम्भात् ।

फल-भेद-व्यपदेशेनैवकारेण च तत्तादर्थस्यैव पुष्टत्वात् साक्षा-देव भजनीयतारतम्यमुपलभ्यते । वस्तुतस्तु सर्व्वभावेनेत्यस्य सर्व्वेन्द्रियप्रवणतयेत्यर्थः । गौणमुख्यन्यायेनैव ज्ञानमिश्रस्य सर्व्वात्मताभावनालक्षणभजनरूपार्थस्य बाधितत्वात् । "स्थानं

प्राप्स्यसि शाश्वतम्" [गीता १८। ६२] इति लोकविशेषप्राप्तेरेव निर्दिष्टत्वात्।

तस्मान्न च भजनावृत्तितारतम्यावकाशः। न च भजनीयस्यैव परोक्षापरोक्षतया निर्द्देशयोस्तारतम्यम्। तदेव तथा प्राचीनयार्वाचीनया च अनया गतिक्रियया सङ्कोचवृत्तिरियं कल्पनीया। यद्यन्तर्य्यामिणः सकाशादन्यापरावस्था न श्रूयते शास्त्रे श्रूयते तु तदवस्थातः परा ततोऽपि परा च सर्व्वत्र।

अत्रैव तावत्—

"साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञञ्च ये विदुः" [गीता ७। ३०] इत्यादौ भेदव्यपदेशात्। तत्र "सहयुक्तेऽप्रधाने" [पाणि सूः २। ३। १६] इति स्मरणेनाधियज्ञस्यान्तर्य्यामिणः सहार्थतृतीयान्ततया लब्धसमासपदस्य स्वस्मादप्रधानत्वोक्तेस्ततः परत्वं श्रीकृष्णस्य व्यक्तमेव।

"अधियज्ञोऽहमेवात्र" [गीता ८। ४] इत्यादौ च तदेव व्यज्यते। "स एव भगवान् द्रोणः प्रजारूपेण वर्त्तते" [श्रीभाग १। ७। ४५] इतिवत् तस्माद्भजनीय-तारतम्यविवक्षयैवोपदेशतारतम्यं सिद्धम्—"एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति" [छाः उः ७ प्रपा १६ खं १] इतिवत्। यः सत्येन ब्रह्मणैव प्रतिपाद्यभूतेन सर्व्वं वादिनमतिक्रम्य वदति एष एव सर्व्वमतिक्रम्य वदतीत्यर्थः। तदेवमर्थे सति यथा तत्र वादस्यातिशायितालिङ्गेन नामादिप्राणपर्य्यन्तानि तत्प्रकरणे उत्तरोत्तरभूतमप्युपदिष्टान्यपि सर्व्वाणि वस्तून्यतिक्रम्य ब्रह्मण एव भूमत्वं साध्यते। तद्वदत्राप्युपदेशाधिक्येन प्रतिपाद्याधिक्यमिति। अतः श्रीकृष्णस्यैवाधिक्यमित्यन्तेऽप्युक्तमिति दिक्।

अथ "शृणु नारद! वक्ष्यामि" इत्यादि चरणचिह्नप्रतिपाद-

कपाद्मबचनान्त आदिशब्दादेतान्यपि पद्यानि ज्ञेयानि—

"मध्ये ध्वजा तु विज्ञेया पद्मं त्र्यङ्गुलमानतः।
वज्रं वै दक्षिणे पार्श्वे अङ्कुशो वै तदग्रतः॥
यवोऽप्यङ्गुष्ठमूले स्यात् स्वस्तिकं यत्र कुत्रचित्।
आदिं चरणमारभ्य यावद्धै मध्यमा स्थिता॥
तावद्धै चोर्द्ध्वरेखा च कथिता पाद्मसंज्ञके।
अष्टकोणन्तु भो वत्स! मानं चाष्टाङ्गुलैश्च तत्॥
निर्द्दिष्टं दक्षिणे पादे इत्याहुर्मुनयः किल।
एवं पादस्य चिह्नानि तान्येव हि तु वैष्णव॥
दक्षिणेतरस्थानानि सम्वदामीह साम्प्रतम्।
चतुरङ्गुलमानेन त्वङ्गुलीनां समीपतः॥
इन्द्रचापं ततो विद्यादन्यत्र न भवेत् क्वचित्।
त्रिकोणं मध्यनिर्द्दिष्टं कलसो यत्र कुत्रचित्॥
अष्टाङ्गुलप्रमाणेन तद्बेदर्द्धचन्द्रकम्।
अर्द्धचन्द्रसमाकारं निर्द्दिष्टं तस्य सुव्रत॥
विन्दुर्व्वै मत्स्यचिह्नञ्च आद्यन्ते वै निरूपितम्।
गोष्पदं तेषु विज्ञेयमाद्यङ्गुलप्रमाणतः॥" इत्यादि।

तदग्रे च।

"षोड़शन्तु तथा चिह्नं शृणु देवर्षिसत्तम!
जम्बूफलसमाकारं दृश्यते यत्र कुत्रचित्।
तच्चिह्नं षोड़शं प्रोक्तमित्याहुर्मुनयोऽनघाः॥" इति।

अत्र वैष्णवोत्तमेत्यादिकं श्रीनारदसम्बोधनम्। यदा कदेति यदा कदाचिदेवेत्यर्थः मध्यमापार्ष्णिपर्य्यन्तयोः समदेशो मध्यस्तत्र ध्वजाध्वजः। अङ्गुलमानतः पादाग्रे त्र्यांगुलप्रमाणदेशं परित्य-ज्येत्यर्थः। "पद्मस्याधो ध्वजं धत्ते सर्व्वानर्थजयध्वजम्" इति

स्कान्दसम्बादात् । यत्र कुत्रचित् परित इत्यर्थः । आदिमङ्गुष्ठ-तर्ज्जनीसन्धिमारभ्य मध्यमामध्यं यावत् तावदूर्द्ध्वरेखा व्यव-स्थिता पाद्मसंज्ञके पुराणे कथितेत्यर्थः । अष्टाङ्गुलेर्मानं तदिति मध्यमाङ्गुल्यग्रादष्टाङ्गुलमानं परित्यज्येत्यर्थः ।

तावाद्विस्तारत्वेन व्याख्यायां स्थानासमावेशः । अतएव पूर्व्वमपि तथा व्याख्यातम् । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । इन्द्रचाप-त्रिकोणाद्ध्चन्द्रकाणि क्रमादधोभागस्थानि । अन्यत्रेति श्रीकृष्णा-दन्यत्रेत्यर्थः ।

बिन्दुरं बरम् । आदौ चरणस्यादिदेशे तदङ्गुलिसमीपे बिन्दुः । अन्ते पार्ष्णिदेशे मत्स्यचिह्नम । षोड़शं चिह्नमुभयोरपि ज्ञेयम्—दक्षिणाद्यनियमेनोक्तत्वात् । अत्र दक्षिणाङ्गुष्ठाधश्चक्रं बामाङ्गुष्ठाधस्तन्मुखं दरश्च स्कान्दोक्तानुसारेण । ते हि श्रीकृष्णे-ऽप्यन्यत्र श्रुयेते । यथादिबराहे मथुरामण्डलमाहात्म्ये—

"यत्र कृष्णेन सर्व्वाण्यं क्रीड़ितञ्च यथासुखम् ।
चक्राङ्कितपदा तेन स्थाने ब्रह्ममये शुभे ॥" इति ।

श्रीगोपालतापन्याम्—

"शङ्खध्वजातपत्रैस्तु चिह्नितं च पदद्वयम्" [गोपालतापनी उः भाः ६०] इति ।

आतपत्रमिदञ्चक्राधस्ताज्ज्ञेयम् । दक्षिणस्य प्राधन्यात्तत्रैव स्थानसमावेशाच्च । अङ्गुलिपरिमाणमात्रदैर्घ्यञ्चतुर्द्दशांशेन तद्वि-स्तारात् षष्ठांशेन ज्ञेयम् । अन्यत्र दैर्घ्ये चतुर्द्दशाङ्गुलिपरिमाणत्वेन प्रसिद्धेरिति । अथ द्विनबतितमबाक्यानन्तरं नित्यत्व-प्रकरणे शास्त्रानर्थक्यमित्यस्यानन्तरमिदं विवेचनीयम्,—"ननु बाला-तुराद्युपच्छन्दनबाक्यबत् तज्ज्ञानमात्रेणापि पुरुषार्थसिद्धि-र्द्दृश्यते । ततो नार्थान्तरसद्भावे तत् स्मारकबाक्यं कारणम् । किन्तु प्रथमतस्तदभिरुचिते तदानीमसत्यपि बस्तुविशेषे तदीय-

हितवस्त्वन्तरचित्तावताराय बालादीनिव मात्रादिवाक्यं सगुण-विशेषे साधकान् प्रवर्त्तयति शास्त्रम् । पश्चाद् यथा स्वहिते क्रमेण स्वयमेव प्रवर्त्तन्ते बालादयस्तथा बलवच्छास्त्रान्तरं दृष्ट्वा निर्गुणे वानित्यप्राकृत्यवैकुण्ठनाथलक्षणसगुणे वा प्रवर्त्त्यन्ते" इति तन्न,—अनन्तगुणरूपादिवैभवनित्यास्पदत्वात् । तद्रूपेणा-वस्थितिर्नासम्भाविता । "यद्गतं भवच्च भविष्यच्च" इति श्रुतेः । सम्भावितायान्तु तस्यामवतारवाक्यं चावतारस्य प्रपञ्चगतत-दीयप्रकाशमात्र-लक्षणत्वात् । नारायणादीनाञ्च तत्रैवावतारे प्रवेशमात्रविवक्षातो न विरुध्यते । किञ्चोत्तरमीमांसायां तत्तदु-पासनाशास्त्रोक्ता "या या मूर्त्तिस्तद्वत्य एव देवताः" इति सिद्धा-न्तग्रहः । ततश्च "तं पीठगं ये तु यजन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्" [गोपालतापनी पूः भाः २ । ६] इत्यादिका गोपा-लतापन्युपनिषदपि येनायथार्था मन्यते तस्य तु महदेव साहसम् । अत्र च शाश्वतसुखफलप्राप्तिश्रवणात् तत्पीठस्य यजनं विना ज्ञान-मसाहसमयम्, "ज्ञानान्मोक्षः" इति श्रुतेः । अत्रैव धीरा इति विशेषणात् बालातुरबद्धावस्तेषां दूर एवोत्सारितः । "नेतरे-षाम्" इति निर्द्धारणेन तद्यजनस्य परम्पराहेतुत्वतापि निषि-ध्यते । अतएव "नाम ब्रह्मेत्युपासीत" इतिवदत्रारोपोऽपि न मन्तव्यः । तस्मादाराधनवाक्येन तस्य नित्यत्वं सिद्ध्यत्येव । "स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः" [पातः सूः साधन पाः ४४ सूः] इति स्मरणञ्चात्रोपष्टम्भकमिति । त्रैलोक्यसम्मोहनवचनान्तर-ञ्चैवं व्याख्येयम् । यदि वा श्रीकृष्णादीनां स्वयंभगवत्ता-दिकमननुसन्धायैव प्रलापिभिरुपासनानुसारेणान्यदापि कश्चि-न्मूलभूत एव भगवान् तत्तद्रूपेणोपासकेभ्यो दर्शनं ददातीति मन्तव्यम्, तथापि श्रुत्यादिप्रसिद्धानां तत्तदुपासनाप्रवाहाणां—

"स्वयं समुत्तीर्य्य भवार्णवं द्युमन् ! सुदुस्तरं भीममदभ्रसौहृदाः ।
भवत्पादाम्भोरुहनावमत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान् ॥"
[श्रीभाग १० । २ । ३१]

इत्यनुसारेणाविच्छिन्नसम्प्रदायत्वेनानादिसिद्धत्वात्, अनन्तत्वात् केषाञ्चित्तच्चरणारविन्दैकसेवामात्रपुरुषार्थानां "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" [गीता ४ । ११] इति न्यायेन नित्यतदेकोपलब्धत्वात् श्रीभगवतः सर्व्वदैव तत्तद्रूपेणावस्थितिर्गम्यत एव । अतएव "भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते निधाय" इत्युक्तम् । तदेतामपि परिपाटीं पश्चाद्विधायाह—

"एषान्तु भाग्यमहिताच्युत तावदास्ता-
मेकादशैव हि वयं वत भूरिभागाः ।
एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः
शर्व्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते ॥
तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् ।
यज्जीवितन्तु निखिलं भगवान्मुकुन्द—
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥"
[श्रीभाग, १० । १४ । ३३-३४]

यत्रावतीर्णः श्रीभगवान् तत्रेह श्रीमथुरामण्डले, तत्रापि अटव्यां श्रीवृन्दावने तत्रापि श्रीगोकुले । कथम्भूतं जन्म "गोकुलवासिनां मध्येऽपि कतमस्य यस्य कस्यापि अङ्घ्रिरजसाभिषेको यस्मिन् तत् ।"— (श्रीधरस्वामी टीका)

"एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन्मुह्यति ।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥"
[श्रीभाग, १० । १४ । ३५]

'राता' दाता। 'त्वत्' त्वष्टाः। 'अयत्' इतस्ततो गच्छत्।
"तावद्रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगड़ो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥"
[श्रीभाग, १०।१४।३६]

"अन्तर्गृहगताः काश्चिद्गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधूताशुभाः।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः॥
तमेव परमात्मानं जारवुद्ध्यापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥

श्रीपरिक्षिदुवाच।

कृष्णं बिदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्॥

श्रीशुक उवाच।

उक्तं पुरुस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः।
नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ बिदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
न चैवं बिस्मयः कार्य्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते॥"
[श्रीभाग, १०।२९।९-१६]

इति श्रीभगवत्सन्दर्भे श्रीकृष्णसन्दर्भस्यानुव्याख्या समाप्ता।

समाप्तेयं सर्व्वसम्वादिनी।